वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ५२ अंक ४ अप्रैल २०१४
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अप्रैल २०१४

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५२
अंक ४

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

वर्ष ५२ अप्रैल २०१४ अंक ४

पुरखों की थाती

दु:साध्यो वासना त्यागः सुमेरुन्मूलनादपि ।।३७२

– वासना-कामना का त्याग करना सुमेरु पर्वत को उखाड़ने से भी अधिक कठिन है। (योग-वाशिष्ठ)

दूरे भीरुत्वमासन्ने शूरता महतो गुणः ।
विपत्तौ च महाँल्लोके धीरतामनुगच्छति ।।३७३।।

– विपत्तियों के दूर रहते उनसे डरना और पास आ जाने पर वीरतापूर्वक मुकाबला करना, यही महान् लोगों का गुण है। अत: महान् लोग विपत्ति आने पर धैर्य बनाये रखते हैं।

दुर्लभं त्रयमेवैतत् दैवानुग्रह-हेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुष-संश्रयः ।।३७४।।

– मनुष्य शरीर में जन्म, मोक्ष प्राप्ति की इच्छा (मुमुक्षा) और महापुरुषों का संग – ये तीनों चीजें अत्यन्त दुर्लभ हैं और ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होती हैं। (श्री शंकराचार्य)

देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थाणां षट्कर्माणि दिने दिने ।। ३७५

– देवपूजा, गुरु-उपासना, शास्त्र-पाठ, संयम, तप तथा दान – ये छह कर्म गृहस्थों के लिये दैनिक कर्तव्य कहे गये हैं।

देवताषु गुरौ गोषु राजसु ब्राह्मणेषु च ।
नियन्तव्यः सदा कोपो बाल-वृद्धातुरेषु च ।।३७६

– देवता, गुरु, गौ, राजा, ब्राह्मण, बालक, वृद्ध तथा रोगी के प्रति आते हुए क्रोध पर सदैव नियंत्रण रखना चाहिये।

देवपूजा दया दानं दाक्षिण्यं दक्षता दमः ।
यस्यैते षट्-दकाराः स्युः स देवांशो नरः स्मृतः ।।३७७

– देवपूजा, दया, दान, विनम्रता, दक्षता और मन का संयम – 'द' अक्षर से शुरू होनेवाली ये छह चीजें जिनके चरित्र में विद्यमान हों, उन्हें देवता के अंश से जन्मा समझना चाहिये।

दौर्मंत्र्यात् नृपतिः विनश्यति यतिः संगात्सुतः लालनात् ।
विप्रः अनध्ययनात्कुलं कुतनयात् शीलं खलोपासनात् ।।
ह्रीः मद्यात् अनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रयात् ।
मंत्री चाप्रणयात् समृद्धिरनयात् त्यागात्प्रमादात् धनम् ।।

– गलत सलाह के द्वारा राजा विनाश को प्राप्त होता है, साधु आसक्ति से, पुत्र अधिक दुलार से, ब्राह्मण अध्ययन छोड़ने से, वंश कुपुत्र से, सदाचरण दुष्ट की सेवा से, लज्जा मद्यपान से, खेती देखभाल के अभाव में, प्रेम यात्राओं या दूरी से, मंत्री स्वामीभक्ति के अभाव में, समृद्धि असंयम से और धन का त्याग तथा आलस्य से विनाश हो जाता है।

देयं भेषजमार्तस्य परिश्रान्तस्य चासनम् ।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम् ।। ३७९

किस प्राणी को क्या देना चाहिए, इस विषय में कहा है – रोगी को औषधि, थके हुए को आसन, प्यासे को जल और भूखे को भोजन देकर सन्तुष्ट करना चाहिए –

दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोषं न निर्गुणम् ।
आवृणुध्वम्-अतो दोषान् विवृमुध्वं गुणान् बुधाः।।३८०

– इस जग में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो पूर्णत: दोषरहित या पूर्णत: गुणरहित हो; अत: ज्ञानी, लोगों के दोषों को ढँककर गुणों को ही प्रकट करते हैं।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्य-मण्डल-भेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखौ हतः ।। ३८१

– दो प्रकार के लोग सूर्य-मण्डल का भेद करनेवाले अर्थात् उत्तरायण मार्ग से परम मुक्ति को प्राप्त करते हैं – एक तो ज्ञानयुक्त परिव्राजक संन्यासी और दूसरे धर्मयुद्ध करते हुए मारा गया शूर-वीर।

❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(केदार–कहरवा)

मन जो तू चाहे सुखविधान,
तो सुन ये बातें खोल कान,
सब छोड़ भोग-ऐश्वर्य-मान,
भज रामकृष्ण करुणानिधान।।

दो दिन की है सारी माया,
मानो सुखमय झूठी छाया,
तू शीघ्र विमुख हो जा इससे,
विषरूप वासना-विषय जान।।

जग में न कहीं कुछ भी तेरा,
अब छोड़ अहं-मम का घेरा,
सेवा में अर्पित हो जीवन,
सबको निज आत्मस्वरूप मान।।

अपना ले सुखकर मार्ग श्रेय,
नित स्मरण रहे निज परम ध्येय,
चिन्तन कर प्रभुलीला 'विदेह',
सत्संगति है अमृत समान।।

– २ –

(भैरवी या केदार–रूपक)
(तर्ज – श्रीरामचन्द्र कृपालु भज मन)

हे रामकृष्ण दयानिधे, निज-चरण-आश्रय दीजिए,
मम दीन-आकुल प्रार्थना, सुनकर भी क्यों न पसीजिए ।।

आया हूँ सब कुछ छोड़कर, अपनों से नाता तोड़कर,
स्वीकार कर निज गोद में, दुख दूर मेरे कीजिए ।।

सँग भेंट-पूजा कुछ नहीं, नाराज मत होना कहीं,
यह प्राण-जीवन आपका, ही है इसे रख लीजिए ।।

मैं तो 'विदेह' मलीन हूँ, पर जलरहित ज्यों मीन हूँ,
अब हे सुधासागर प्रभो, सुख आप ही में है जिए ।।

पश्चिमी दुनिया में दूसरी बार

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

गंगा से निकलने में हमें दो दिन लग गये।... २४ जून की रात को हमारा जहाज मद्रास पहुँचा। सुबह उठकर देखा – समुद्र के भीतर मद्रास के चहारदीवारी से घिरे बन्दरगाह में हूँ। भीतर का जल स्थिर है और बाहर उत्ताल तरंगें गरज रही हैं और बीच-बीच में बन्दर की दीवार से लगकर दस-बारह हाथ उछल पड़ती हैं; फिर फेनमय होकर छितरा जाती है। ...

शाम के समय जहाज छूटा। उस समय एक शोर उठा। झरोखे से झाँककर देखा, तो करीब एक हजार मद्रासी स्त्री-पुरुष-बालक-बालिकाएँ बन्दर के बाँध पर बैठी हुई थीं – जहाज के छूटते ही वे यह विदासूचक ध्वनि कर रहे थे। आनन्द होने पर बंगाल के समान ही मद्रासी लोग भी 'हुलु' ध्वनि करते हैं।

मद्रास से कोलम्बो पहुँचने में चार दिन लगे। जो तरंगें गंगासागर से शुरू हुई थीं, वे क्रमश: बढ़ने लगीं। मद्रास के बाद और भी बढ़ गयीं। जहाज खूब झूमने लगा। यात्री सिर थामकर उल्टी करते-करते परेशान हो गये। ...

२५ जून को सुबह जहाज ने कोलम्बो छोड़ा। अब ठीक मानसून के भीतर से गुजरना होगा। जहाज जितना ही बढ़ रहा है, तूफान उतना ही बढ़ रहा है; हवा उतनी ही गरज रही है – बारिश और अँधेरा दोनों बढ़ रहे हैं, बड़ी-बड़ी तरंगें गरजती हुई जहाज पर टूट रही हैं। डेक पर टिकना कठिन हो रहा है।... जहाज 'कचमच'-'कचमच' की आवाज कर उठता है, मानो टूटकर खंड-खंड हो जायगा। कप्तान कहते हैं, "चिन्ता की बात है। इस बार मानसून बड़ा खराब है।"

छह दिन का रास्ता चौदह दिन में, दिन-रात तूफान और बादलों के भीतर से गुजरकर भी अन्त में हम लोग अदन पहुँच ही गये। कोलम्बो से जितना आगे बढ़ा जाता है, उतनी ही हवा भी बढ़ती है, उतना ही आसमान, ताल-तलैयाँ, उतनी ही वर्षा, उतना ही हवा का जोर, उतनी ही तरंगें – उस हवा और तरंगों को ठेलकर जहाज क्या कभी चल सकता है? जहाज की गति आधी हो गयी – सकोत्रा द्वीप के पास पहुँचते ही हवा का वेग काफी बढ़ गया। कप्तान ने कहा, "यहाँ मानसून का केन्द्र है। इसे पार कर लेते ही क्रमश: शान्त समुद्र मिलेगा और ऐसा ही हुआ भी। यह दु:स्वप्न भी कटा।...

१४ जुलाई को लालसागर पार होकर जहाज स्वेज पहुँचा।... यह बड़ा सुन्दर प्राकृतिक बन्दर-गाह है, प्राय: तीन तरफ बालू के टीले और पहाड़ हैं – जल भी खूब गहरा है। पानी में असंख्य मछलियाँ और शार्क तैरते फिरते हैं। ...

सुबह खाने-पीने के पहले ही सुना कि जहाज के पीछे बड़े-बड़े शार्क तैर रहे हैं। पहले कभी पानी के भीतर जीवित शार्क नहीं देखे थे।... शार्क की खबर सुनकर ही हम लोग झट हाजिर हुए।... छत की रैलिंग पकड़कर कतार-के-कतार स्त्री-पुरुष, लड़के-लड़कियाँ झुककर शार्क देख रहे हैं। हम लोग जब हाजिर हुए तब शार्क मियाँ जरा हट गये थे; मन बड़ा क्षुब्ध हुआ।... आधे से पौन घण्टा बीत गया – जी उबने लगा, तभी एक व्यक्ति चिल्ला उठा – वह, वह ! दस बारह लोग कह उठे – वह आ रहा है ! निगाह उठाकर देखता हूँ, दूर कोई बड़ी-सी काली चीज तैरती हुई आ रही है, पाँच सात इंच पानी के नीचे क्रमश: वह वस्तु आगे बढ़ने लगी। बड़ा-सा चपटा सिर नजर आया; वही निर्द्वन्द्व चाल?... भीषण मत्स्य !...

सेकेंड क्लास के लोग बड़े उत्साही थे। उनमें एक फौजी आदमी था, जिसके उत्साह की सीमा न थी। वह जहाज में से कहीं से ढूँढ़कर एक बहुत बड़ा कटिया ले आया। उसने उस कटिये में मजबूत रस्सी से करीब एक सेर मांस कसकर बाँध दिया। चार हाथ छोड़कर एक बड़ा-सा काठ सलके के तौर पर बाँधा गया। इसके बाद सलका-सहित डोर झप से पानी में फेंक दी गयी।... हम लोग उत्सुक होकर – अँगूठों के सहारे खड़े होकर बरामदे पर झुके हुए, वह आया – वह आया शार्क।... वह देखो, चक्कर काटकर आ रहा है, फिर मुँह फैलाया, वह चारा दबा लिया मुँह से, उसी समय – वह देखो चित्त हो गया; चारा खा लिया – खींचो, खींचो,

चालीस-पचास आदमी, खींचो जी-जान से खींचो ।... खींचो, भाइयो, खींचो । अरे यह खून का फुहारा ! अब कपड़े का मोह करने से काम नहीं चलेगा । खींचो, यह आया । अब जहाज के ऊपर फेंको; भाई ! होशियार, खूब होशियार, यदि यह किसी पर झपटेगा, तो उसका पूरा हाथ काटकर खा जायगा । और पूँछ ! सावधान ! अब रस्सा छोड़ दो । धप्प ! बाप रे ! कितना बड़ा शार्क है !! किस धमाके से जहाज पर गिरा । 'सावधान को मार नहीं', उस काठवाली घन्नी से उसके सर पर मारो, ओ जी, फौजीमेन !! तुम सिपाही हो, यह तुम्हारा काम है । – "ठीक तो है ।" खून से भरी देह, कपड़े; फौजी यात्री वह काठवाली घन्नी उठाकर दनादन शार्क के सिर पर मारने लगा । और औरतें – अहा, कैसी बेदर्दी है, मारो मत – आदि आदि कहकर चिल्लाने लगीं; पर देखना भी न छोड़ेंगी ! अब इस बीभत्स दृश्य का यहीं विराम किया जाय । किस तरह उस शार्क का पेट चीरा गया, किस तरह खून की नदी बहने लगी, किस तरह वह शार्क छिन्न अंग, भिन्न हृदय होकर भी कुछ देर तक काँपता रहा, हिलता रहा, किस तरह उसके पेट से अस्थि चर्म, मांस, काठ के कुछ टुकड़े निकले – अब ये सब बातें रहने दो । इतना तो जरूर हुआ कि उस दिन मेरे खाने-पीने की नौबत फिर नहीं आयी । सब चीजों में उसी शार्क की बदबू का बोध हो रहा था । ...

अब भूमध्यसागर आया । भारत के बाहर ऐसा स्मरणीय स्थान दूसरा नहीं । यहीं एशिया और अफ्रीका की प्राचीन सभ्यता के अवशेष हैं । एक तरह की रीति-नीति, खान-पान समाप्त हुए; दूसरे तरह के आकृति-प्रकृतियों, आहार-विहारों, पोशाकों, आचार-व्यवहारों का आरम्भ हुआ – यूरोप आया ।

जहाज नेपल्स में लगा – हम इटली पहुँचे । ... नेपल्स छोड़कर जहाज मार्सेल्स में लगा था, फिर सीधे लन्दन ।[१]

स्वेज, १४ जुलाई १८९९ : अब मैं सचमुच ही निकल पड़ा हूँ और आशा करता हूँ कि दो सप्ताह में लन्दन पहुँच जाऊँगा । इस साल मैं अवश्य अमेरिका आऊँगा और हृदय से आशा करता हूँ कि तुम्हारे साथ मुलाकात का भी सुयोग मिलेगा । मैं अब भी इतना भौतिकवादी हूँ कि अपने मित्रों को उनके स्थूल शरीर में देखना चाहता हूँ । ...

भारत में मेरा स्वास्थ्य बड़ा खराब था । हृदय में गड़बड़ी थी – पहाड़ पर चढ़ाई, हिमनदों के जल में स्नान और स्नायविक अवसाद ही इसके कारण थे ! मुझे (दमा के) भयंकर दौरे आते थे – जिनमें आखिरी दौरा सात दिन और सात दिन चला था । उस दौरान हर समय मेरा दम घुट रहा था और मुझे खड़े रहना पड़ता था ।

इस यात्रा ने मानो मेरा कायाकल्प कर दिया है । मैं काफी बेहतर महसूस कर रहा हूँ और यदि यह सुधार जारी रहता है, तो आशा है कि अमेरिका पहुँचने तक खूब सबल हो जाऊँगा ।[२]

इंग्लैंड में

विम्बल्डन, ३ अगस्त, १८९९ : आखिर हमें चैन मिली ।... समुद्र-यात्रा से मेरे स्वास्थ्य में काफी सुधार हुआ है । यह डम्बलों के साथ व्यायाम करने और मानसूनी तूफान के द्वारा लहरों में टक्कर खाते स्टीमर से ही हुआ । क्या यह विचित्र बात नहीं है? आशा है कि यह ऐसा ही चलेगा ।... यहाँ पर मौसम सुहावना और गर्म है; या जैसा लोग कहते हैं – खूब गर्म । मैं इस समय एक शून्यवादी हो गया हूँ, जो 'शून्य' या 'कुछ नहीं' में विश्वास करता है । कोई योजना नहीं, कोई चिन्ता नहीं, किसी भी काम के लिए प्रयत्न नहीं, पूर्णरूपेण मुक्त । ...

इस समुद्र-यात्रा से मैं वर्षों छोटा नजर आ रहा हूँ । केवल जब हृदय धक्का देता है, तभी मुझे अपनी अवस्था का भान होता है । हाँ, तो यह अस्थि-चिकित्सा क्या है? क्या मेरा इलाज करने के लिए वे पसली की एक-दो हड्डियाँ काटकर अलग कर देंगे । ऐसा मैं कभी नहीं होने दूँगा, निश्चय ही मेरी पसलियों से दवा आदि बनाना नहीं चलेगा । मेरी हड्डियाँ गंगा में मूँगे बनने के लिए निर्मित हैं । ... अब मैं फ्रेंच पढ़ रहा हूँ, पर व्याकरण से कोई वास्ता नहीं ।[३]

विम्बल्डन, ६ अगस्त, १८९९ : मैं नहीं जानता कि इसके बाद मुझे क्या करना होगा, या कुछ करना भी होगा या नहीं । जलयान में मेरा स्वास्थ्य ठीक था, परन्तु यहाँ उतरने के बाद से वह फिर काफी बिगड़ गया है । जहाँ तक दुश्चिन्ताओं का प्रश्न है, अभी उनकी कोई कमी नहीं है । जिन चाची से आप मिली थीं, उन्होंने मुझे ठगने की बड़ी गहरी योजना बना रखी थी । उन्होंने तथा उनके लोगों ने ६००० रुपयों या ४०० पौण्ड में मुझे एक मकान बेचने का प्रस्ताव रखा और मैंने उन पर विश्वास करके अपनी माँ के लिये उसे खरीद लिया । परन्तु यह सोचकर वे लोग मुझे कब्जा नहीं दे रहे थे कि मैं एक संन्यासी हूँ और संकोचवश मकान पर बलपूर्वक अधिकार करने के लिये कचहरी में नहीं जाऊँगा ।

कार्य के लिये मुझे आप तथा अन्य लोगों ने जो कुछ दिया था, उसमें से मैंने एक रुपया भी खर्च नहीं किया है । कैप्टेन सेवियर ने इस विशेष इच्छा के साथ मुझे ८००० रुपये दिये थे कि इससे मैं अपनी माँ की सहायता करूँ । लगता है कि यह धन भी बरबाद हो गया । इसके सिवा मेरे परिवार या मेरे व्यक्तिगत व्यय के रूप में कुछ भी खर्च नहीं हुआ है । मेरे भोजन आदि का खर्च खेतड़ी के राजा दे रहे हैं और प्रति माह उसके आधे से अधिक भाग मठ को चला गया । चूँकि मेरा इस तरह ठगा जाना उचित नहीं है, अत: यदि ब्रह्मानन्द (चाची के खिलाफ) मुकदमे पर कुछ व्यय करते हैं, तो जीवित रहने पर उसकी भरपाई कर दूँगा ।

यूरोप तथा अमेरिका में व्याख्यान देने पर मुझे जो रुपये मिले थे, उन्हें मैंने अपनी इच्छानुसार व्यय किया, परन्तु कार्य के लिये मिले हुए धन के पाई-पाई का हिसाब रखा गया है और वह मठ में रखा हुआ है। ...

अब भी मेरी कोई योजना नहीं है और न कोई योजना बनाने का विचार ही है। जगदम्बा कोई अन्य कर्मी ढूँढ़ लें। मेरे पास पहले से ही यथेष्ट उत्तरदायित्व है।[४]

विम्बल्डन, अगस्त, १८९९ : कुछ सप्ताह में मैं न्यूयार्क पहुँचने की आशा करता हूँ और इसके आगे क्या होगा – यह मैं नहीं जानता। आगामी वसन्त में मै फिर इंग्लैंड आने की आशा करता हूँ।

यह मेरी उत्कट अभिलाषा है कि कोई आपदा किसी के भी पास न फटके, लेकिन आपदा ही एक ऐसी वस्तु है, जो हमें अपने जीवन की गहराइयों में अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है। क्या यह सच नहीं है?

अन्तर्वेदना के क्षणों में सदा के लिए जकड़े द्वार खुलते प्रतीत होते हैं और प्रकाश का एक प्रवाह अन्दर प्रविष्ट होता प्रतीत होता है। आयु के साथ-साथ हम सीखते चलते हैं।

खेद की बात है कि हम यहाँ अपने ज्ञान का उपयोग नहीं कर पाते। जब हमें लगता है कि हम सीख रहे हैं, उसी क्षण हम रंगमंच से द्रुत हटा दिये जाते हैं। और यही माया है![५]

अमेरिका में

रिजले मैनर, ४ सितम्बर, १८९९ : इधर पिछले छह महीनों से मैं भाग्य के दुश्चक्र की चरम अवस्था में रहा हूँ। मैं जहाँ कहीं भी जाता हूँ, दुर्भाग्य मेरा पीछा नहीं छोड़ता। लगता है इंग्लैंड में स्टर्डी अपने काम से ऊब गये हैं, वे हम भारतीयों में कोई त्याग-तपस्या नहीं देख पा रहे हैं।[६]

रिजले मैनर, १४ सितम्बर, १८९९ : श्रीमती जानसन के मतानुसार किसी धार्मिक व्यक्ति को रोग होना उचित नहीं है।... मेरे रोग के कारण ही मिस मूलर ने भी मेरा त्याग कर दिया। सम्भव है उनकी धारणा सही हो, किन्तु मैं जैसा था, ठीक वैसा ही हूँ। भारत में अनेक व्यक्तियों ने इस दोष के लिए जिस प्रकार आपत्ति की है, उसी प्रकार यूरोपीय लोगों के साथ भोजन करना भी उनकी दृष्टि में दोषयुक्त है। यूरोपियनों के साथ मैं भोजन करता हूँ, इसलिए मुझे एक पारिवारिक मन्दिर से निकाल दिया गया था। मैं चाहता हूँ कि मेरी गठन इस प्रकार की हो कि प्रत्येक व्यक्ति मुझे अपनी इच्छानुसार मोड़ सके। किन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि मुझे ऐसा व्यक्ति देखने को नहीं मिलता, जिससे कि सभी लोग सन्तुष्ट हों। खासकर जिसे अनेक स्थानों में घूमना पड़ता है, उसके लिए सबको सन्तुष्ट कर पाना सम्भव नहीं है।

जब मैं पहले अमेरिका आया था, तब पतलून न पहनने के कारण लोग मेरे प्रति दुर्व्यवहार करते थे; इसके बाद मुझे आस्तीन तथा कालर पहनने के लिए बाध्य किया गया – अन्यथा वे मेरी उपेक्षा करते। इसी प्रकार और भी बातें थीं। ...

परन्तु मैं ज्योंही भारत पहुँचा, वहाँ तत्काल मेरा मस्तक मुण्डन कराकर मुझे कौपीन धारण कराया गया; फलतः मुझे 'बहुमूत्र' हो गया।... निःसन्देह यह सब मेरा कर्मफल है; और इसलिए मैं आनन्द ही अनुभव करता हूँ। क्योंकि यद्यपि इससे तात्कालिक कष्ट होता है, फिर भी इसके द्वारा जीवन में एक विशेष प्रकार का अनुभव प्राप्त होता है; और यह अनुभव चाहे इस जीवन में या अगले जीवन में उपयोगी ही सिद्ध होगा। ...

निःसन्देह मैं स्वयं उतार-चढ़ाव के बीच में होकर अग्रसर हो रहा हूँ। मैं सदा यह जानता तथा प्रचार करता रहा हूँ कि प्रत्येक आनन्द के बाद दुख उपस्थित होता है – उसका परिणाम चक्रवृद्धि व्याज जैसा न होने पर भी कम-से-कम उसी के अनुरूप है। संसार से मुझे बड़ा प्रेम मिला है; अतः यथेष्ट घृणा प्राप्त करने के लिए भी मुझे तैयार रहना होगा। इससे मुझे खुशी ही है – क्योंकि भले ही मुझे स्वयं उसका लक्ष्य बनना पड़े, तो भी इसके द्वारा मेरा यह मतवाद प्रमाणित हो रहा है कि हर उत्थान के साथ ही उसी के अनुरूप पतन भी रहता है।

अपनी ओर से मैं अपने स्वभाव तथा नीति पर निर्भर हूँ – एक बार जिसको मैंने अपने मित्र रूप में माना है, वह सदा के लिए मेरा मित्र है। इसके अलावा भारतीय रीति के अनुसार बाहरी घटनाओं के कारणों का आविष्कार करने के लिए मैं भीतर की ओर ही देखता हूँ; मैं यह जानता हूँ कि मुझ पर चाहे जितनी भी विद्वेष तथा घृणा की तरंगें क्यों न उठें, उनके लिए मैं खुद जिम्मेवार हूँ तथा यह जिम्मेवारी एकमात्र मुझ पर ही है। इसके अतिरिक्त इसका दूसरा कोई कारण हो ही नहीं सकता।[७]

रिजले मैनर, १४ सितम्बर, १८९९ : मैं लेगेट के घर में विश्राम के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं कर रहा हूँ। अभेदानन्द यहीं पर है। वह काफी परिश्रम कर रहा है।[८]

रिजले मैनर, २० सितम्बर, १८९९ : अब मैं काफी अच्छा हूँ। तुम्हें धन्यवाद। तीन दिनों को छोड़कर यहाँ कोई उल्लेखनीय नम जलवायु नहीं थी। मिस नोबल (निवेदिता) कल यहाँ पहुँच गयी और हमारा समय काफी अच्छा बीत रहा है। मुझे यह बताते हुए बड़ा खेद हो रहा है कि मैं फिर मोटा हो रहा हूँ। यह अच्छा नहीं है। मैं खाने में कमी कर दूँगा और फिर दुबला हो जाऊँगा।[९]

रिजले मैनर, अक्तूबर, १८९९ : अपनी समझ में मैंने कभी किसी ऐसी चीज का दम्भ नहीं किया, जो मुझमें नहीं है; और न ऐसा करना मेरे लिए सम्भव ही है, क्योंकि मेरा एक घण्टे का सान्निध्य किसी को भी मेरे धूम्रपान तथा चिड़चिड़े स्वभाव आदि से परिचित करा देगा। 'हर मिलन का अन्त वियोग

में होता है' – यही वस्तुओं का स्वभाव है । मैं निराशा का भी बोध नहीं करता । आशा है कि अब आपमें कोई कटुता न होगी । कर्म ही हमें मिलाता है और कर्म ही जुदा भी कराता है । ...

मेरा तरीका यह है कि हम कभी माँगते नहीं, बल्कि स्वैच्छिक सहायता की प्रतीक्षा करते हैं । मैं अपने सारे कार्य में इसी नियम का पालन करता हूँ, क्योंकि मैं बड़ी अच्छी तरह जानता हूँ कि मेरा स्वभाव अनेक लोगों को अप्रसन्न करनेवाला है । अत: तब तक प्रतीक्षा करता हूँ, जब तक कोई स्वयं मुझे चाहता है । मैं अपने को हमेशा एक क्षण की सूचना पर विदा होने के लिए तैयार रखता हूँ । और विदाई के मामले में, न तो मैं कोई बुरा मानता हूँ और न इसके विषय में अधिक सोचता ही हूँ, क्योंकि मेरा जिस तरह का बंजारा जीवन है, उसमें ऐसी बातें हमेशा होती रहती हैं । मैं केवल इसीलिए दुखी हूँ कि न चाहते हुए भी दूसरों को कष्ट देता हूँ ।[१०]

रिजले मैनर, १८ (?) अक्तूबर, १८९९ : एक चीज है, जिसे प्रेम कहते हैं और एक दूसरी चीज है, जिसे अभिन्नता कहते हैं । यह अभिन्नता प्रेम से भी बड़ी चीज है ।

मुझे धर्म से प्रेम नहीं है । मैं उसके साथ अभिन्न हो गया हूँ । धर्म ही मेरा जीवन है । अत: मनुष्य उस वस्तु से प्रेम नहीं करता, जिसमें उसका जीवन बीता है, जिसमें उसके वस्तुत: कोई उपलब्धि की है । हम उसी वस्तु से प्रेम करते है, जो अभी हमसे अभिन्न नहीं है ।... भक्ति और ज्ञान में यही भेद है; और इसी कारण भक्ति की अपेक्षा ज्ञान बड़ा है ।[११]

रिजले मैनर, २३ अक्तूबर, १८९९ : मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि मेरे पिछले पत्र में मेरी तत्कालीन शारीरिक अवस्था का वर्णन था, क्योंकि हम उसी को सम्पूर्ण अस्तित्व मानते हैं । माँ (श्रीमती हेल), जीवन में सुख की अपेक्षा दुख अधिक है । यदि ऐसा न होता, तो मैं अपने जीवन में क्यों अन्य अनेक लोगों को छोड़कर प्राय: प्रतिदिन ही तुम्हारा और तुम्हारी सन्तानों का स्मरण करता? लोग सुख को इसलिये इतना पसन्द करते हैं, क्योंकि वह इतना दुर्लभ है, है न ! हमारे जीवन का ५० प्रतिशत केवल आलस्य में जाता है, ४० प्रतिशत कष्ट मैं और केवल १० प्रतिशत सुख में जाता है – और वह भी विशेष भाग्यवानों के जीवन में । हम बहुधा आलस्य की अवस्था को सुख समझ बैठते हैं। बल्कि आलस्य एक नकारात्मक अवस्था है, जबकि सुख तथा दुख – सकारात्मक न होते हुए भी, सकारात्मक के काफी करीब हैं ।[१२]

रिजले मैनर, १ नवम्बर, १८९९ : प्रिय निवेदिता, ऐसा लग रहा है मानो तुम्हारे हृदय में किसी प्रकार का विषाद है । घबड़ाओ मत, कोई भी चीज चिरस्थायी नहीं है । जीवन अनन्त नहीं है । मैं इसके लिए अति कृतज्ञ हूँ । दुनिया के सर्वश्रेष्ठ एवं परम साहसी लोगों के भाग्य में कष्ट ही लिखा होता है; और यद्यपि उसका प्रतिकार सम्भव है, तथापि जब तक ऐसा न हो, तब तक के लिए भावी अनेक युगों तक इस प्रकार की घटना कम-से-कम स्वप्न दूर करने की शिक्षा के रूप में ग्रहण करने योग्य है । मैं तो स्वाभाविक दशा में अपनी वेदना-यातनाओं को आनन्द के साथ ग्रहण करता हूँ । इस जगत् में किसी-न-किसी को दुख उठाना ही पड़ेगा; मुझे इस बात की खुशी है कि जिन लोगों को प्रकृति के सम्मुख बलि के रूप में उपस्थित किया गया है, उनमें से मैं भी एक हूँ ।[१३]

न्यूयार्क, १० नवम्बर, १८९९ : अब मैं न्यूयार्क में हूँ । कल डॉक्टर गर्नसी ने मेरा मूत्र-परीक्षण किया और उसमें जरा भी शर्करा या अल्बूमीन नहीं मिला । इसलिये फीलहाल मेरी किडनियाँ ठीक हैं । हृदय थोड़ा नर्वस है, उसे शान्त करने की जरूरत है । इसके लिये चाहिये थोड़ा आनन्ददायी परिवेश, स्नेहपूर्ण मित्र तथा निर्जनता । असुविधा केवल बदहजमी को लेकर है – वही मेरा शत्रु है । सुबह के समय मैं ठीक रहता हूँ और मीलों टहल सकता हूँ, परन्तु रात में खाने के बाद मेरे लिये टहलना असम्भव हो जाता है – गैस ही इसके लिये उत्तरदायी है, जो भोजन पर निर्भर करता है, है न ! मुझे बैटिल क्रीक खाद्य लेकर देखना चाहिये । यदि मैं डिट्रायट आऊँ, तो वहाँ मुझे निर्जनता और बैटिल क्रीक व्यंजन भी मिल सकेगा ।

यदि तुम बैटिल क्रीक खाद्य बनाने के सारे निर्देश लेकर कैम्ब्रिज में आओ, मैं वहाँ उसे बनवा लूँगा, या फिर हम दोनों मिलकर बना लेंगे । मैं एक अच्छा बावर्ची हूँ, परन्तु तुम खाना पकाने के बारे में कुछ भी नहीं जानती । यदि तुम बर्तनों आदि की सफाई में भी मदद कर सको, तो भी बड़ा अच्छा रहेगा । मुझे जब भी धन की जरूरत होती है, तो वह मिल जाता है । 'माँ' हमेशा उसकी व्यवस्था कर देती हैं । अत: उस विषय में कोई समस्या नहीं है । डॉक्टर लोग इस बात से सहमत हैं कि मेरी जान को कोई खतरा नहीं है, बशर्ते यह बदहजमी चली जाय । उसके लिये चाहिये – 'खाना', 'खाना' और 'खाना' और चिन्ता का अभाव । अहा, चिन्ता मुझ पर कैसी सवार थी ![१४]

❖ (क्रमश:) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. १४९-९९; **२.** The Com.Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ११६-१७; **३.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. ३७१; **४.** The Com. Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ११८-१९; **५.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. ३७२; **६.** वही, खण्ड ७, पृ. ३७६; **७.** वही, पृ. ३७९-८०; **८.** वही, पृ. ३७९; **९.** The Com. Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. १२०; **१०.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. ३८४; **११.** The Com. Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ४०९; **१२.** वही, खण्ड ९, पृ. १२२; **१३.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. ३८५; **१४.** The Com. Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. १२४-२५

धर्म-जीवन का रहस्य (२/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. में विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'धर्म' विषयक जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

समस्त वानरों के साथ भगवान राम इस देहाभिमान रूपी समुद्र के तट पर रुके हुए हैं। प्रश्न यह है कि इस अपार समुद्र को कैसे पार किया जाय? यहाँ इस देहाभिमान के समुद्र के लिये एक अन्य शब्द का भी प्रयोग किया गया। विभीषणजी ने श्रीराम से कहा – प्रभो, समुद्र आपके कुलगुरु हैं। आप उनसे प्रार्थना करें, तो वे अवश्य मार्ग दे देंगे –

प्रभु तुम्हार कुलगुर जलधि ... ।। ५/५०

आगे चलकर फिर एक नया शब्द आता है – यह जड़बुद्धि वाला दुष्ट समुद्र विनय की भाषा नहीं समझता –

बिनय न मानत जलधि जड़ ... ।। ५/५७

बड़ी विचित्र भाषा है, अभी उसे गुरु मानकर प्रार्थना कर रहे थे और अब उसी के लिये दुष्ट शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। कह रहे हैं कि दुष्ट से विनय करना ठीक नहीं है। तो प्रश्न यह है कि शरीर गुरु है या दुष्ट? साधारणत: ये दोनों कभी एक नहीं होते। जिसे हम दुष्ट मानेंगे, उसे हम गुरु कैसे कहेंगे। जिसे गुरु मानेंगे, उसे दुष्ट कैसे कहेंगे! पर शरीर के विषय में सत्य तो यही है कि शरीर या तो गुरु है, या दुष्ट। इसका सूत्र क्या है? यही कि सीताजी को पाना लक्ष्य है, यदि यह उसमें सहयोग दे, तब तो गुरु है। गुरु का उद्देश्य यही है कि वह शिष्य के जीवन में शान्ति की उपलब्धि करा दे और शरीर यदि इस दिशा में सहयोग करता है, तो वह गुरु है। परन्तु यदि इसमें विलम्ब करता है, बाधा पैदा करता है, तो दुष्ट है।

इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि व्यक्ति यदि शरीर की रचना पर दृष्टि डाले, तो वह गुरु के समान ही हम सबको उपदेश दे रहा है। यदि कोई उस उपदेश को ठीक-ठीक ग्रहण कर ले, तो नि:सन्देह उसका जीवन कल्याण की दिशा में अभिमुख होगा। इसीलिये यहाँ लंका के सन्दर्भ में रामायण में शरीर को समुद्र बताया। भगवान राम ने जब अयोध्या में उपदेश दिया, तो उन्होंने शरीर की प्रशंसा की थी। प्रशंसा करते हुए उन्होंने अयोध्यावासियों से कहा था – मित्रो, यह शरीर जहाज है, नौका है –

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो ।
सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ।।
करनधार सदगुर दृढ़ नावा ।
दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ।। ७/४३/८

तो प्रश्न उठता है कि शरीर समुद्र है या शरीर नौका है। समुद्र व्यक्ति को डुबाता है और नौका पार करती है। तो सीधी-सी बात है – शरीर डुबा भी सकता है और शरीर पार भी कर सकता है। अधिकांश लोगों को शरीर डुबा रहा है, इसलिये उनके लिये समुद्र है और जो व्यक्ति इस शरीर का सदुपयोग करते हैं, शरीर से प्रेरणा प्राप्त करते हैं, उनके लिये यह शरीर प्रेरक है, नौका है, जहाज है।

राजा प्रतापभानु ने भी गुरु की खोज की। उन्होंने कपटमुनि का गुरु के रूप में ही वरण किया था। वैसे उनके एक गुरुजी पहले से भी थे। वह भी वर्णन आया है। लेकिन नये गुरु जितने चमत्कारी लगे, उतने पुराने गुरु नहीं लगे। पुराने गुरु ने कह दिया था कि वृद्धावस्था तो शरीर का धर्म है। समय पर शरीर की जो अवस्था होने का है, वैसा ही होगा। पर नये गुरु ने जब बताया कि जबसे सृष्टि बनी है, तबसे मेरा जन्म हुआ और तबसे मैंने दूसरा शरीर ग्रहण नहीं किया। तो ये नये गुरु बहुत बड़े चमत्कारी लगे। लगा कि उन गुरुजी में क्या विशेष बात है! ये हैं असली गुरुजी! देखो, इनकी तो कभी मृत्यु ही नहीं हुई और ये स्वयं ही नहीं, हमें भी अजर-अमर बना सकते हैं। फिर व्यंग्य आता है कि आगे चलकर योजना बनी। कपटमुनि ने कहा कि हम तुम्हारे गुरुजी का अपहरण करके ले आवेंगे, उनको यहाँ कन्दरा में रख देंगे, स्वयं तुम्हारे गुरु का रूप बनाकर आ जायेंगे और तुम्हारा सारा कार्य बना देंगे। यह एक व्यंग्यात्मक चित्र है। इसका अभिप्राय यह है कि उसने यह मानकर ही नये गुरु का वरण किया कि वे हमें वृद्ध न होने दें, हमें मरने न दें, हम संसार में अविजित रहें।

यहाँ मनु और प्रतापभानु के दृष्टिकोणों में एक महान् अन्तर है। भगवान राम ने अयोध्यासियों के समक्ष शरीर की प्रशंसा करते हुए कहा था – मित्रो, जब ईश्वर ने मनुष्य को ऐसा शरीर दे दिया, जो साधना का धाम है –

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा ।
पाइ न जेहिं परलोक सँवारा ।। ७/४२/८

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ ।।७/४३

तो सूत्र यह है कि यदि हम इस सृष्टि को ईश्वर की रचना माने और ईश्वर ने यदि मनुष्य को यह शरीर दिया है, तो ऐसा भी शरीर दे सकता था, जैसा देवताओं का होता है। देवताओं का शरीर सदा एकरस रहता है। देवताओं के शरीर में रोग नहीं होता। ईश्वर वैसा ही शरीर मनुष्य को भी दे सकते थे। परन्तु रामायण का यह संकेत है कि यह मानव-शरीर देवताओं के लिये भी दुर्लभ है। इसका अर्थ यह है कि देवताओं का सौभाग्य चाहे जितना बड़ा दिखाई देता हो, पर जब आप उनके दुर्भाग्य को समझेंगे, जब उस पर गहराई से दृष्टि डालेंगे, तो आपको समझ में आएगा कि सचमुच ही मनुष्य का शरीर जितना उपयोगी है, जितना प्रेरक है, उतना प्रेरक वह देवताओं का शरीर न है और न हो सकता है।

अब उसका सूत्र देखें। मनु विचारक थे। उन्होंने देखा कि मेरा शरीर वृद्ध हो गया है और यह क्या शिक्षा दे रहा है? ईश्वर ने हमें जो शरीर दिया, उसकी क्रमशः एक परिणति होती है – पहले नन्हें शिशु के रूप में, फिर किशोर के रूप में, फिर युवा के रूप में और उसके बाद वृद्ध के रूप में। तो पहला सूत्र यह है कि जो शरीर हम लोगों को मिला है, वह परिवर्तित होने वाला है। शरीर का यही धर्म है। इसी तरह से इसकी रचना की गई है। तो व्यक्ति पहला सूत्र यही सीख सकता है कि यहाँ जो कुछ है, वह परिवर्तनशील है, बदलने वाला है। और जो परिवर्तनशील है, यदि हम उसे अपरिवर्तनशील बनाने की चेष्टा कर रहे हैं, तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि वस्तुतः ईश्वर उसके द्वारा जो कार्य लेना चाहता था, उस कार्यों को हम सही अर्थों में नहीं समझ पा रहे हैं। 'संसरणे संसारः' – उसने यदि संसार को सरक जाने वाला, न पकड़ में आने वाला परिवर्तनशील बनाया है, तो हमारे मन में पहली प्रेरणा यह होनी चाहिये कि इस परिवर्तनशील के पीछे कोई अपरिवर्तनशील भी है क्या? जीवन में अनेक वस्तुएँ प्राप्त हैं, तो भी व्यक्ति के खोज करता है कि क्या ऐसी भी कोई वस्तु है, जो इनसे अच्छी हो। तो ईश्वर ने शरीर और संसार के माध्यम से एक परिवर्तन का सूत्र दिया ही है।

फिर रचना में उसका कौतुक भी क्या है? कौतुक यह है कि उसने शुरू में बनाई बाल्यावस्था, अन्त में बनाई वृद्धावस्था और बीच में युवावस्था। गुरु के रूप में शरीर ने मानो फिर एक नया सूत्र, एक नया उपदेश दिया कि बाल्यावस्था में भी पराधीनता वृद्धावस्था में भी पराधीनता और बीच में जवानी में जो थोड़ी स्वाधीनता जैसी दिखाई दे रही है, उसमें इतना मत अकड़ जाइये कि बाल्यावस्था और वृद्धावस्था का सत्य भूल ही जाय। जीवन की प्रत्येक अवस्था मानो हमें कोई-न-कोई सन्देश देती है, कोई-न-कोई उपदेश देती है। यदि इस दृष्टि से विचार करें, तो व्यापक अर्थों में यह बाल्यावस्था शरणागति के सूत्र से ओतप्रोत है। किशोरावस्था में भक्ति का सन्देश है। युवावस्था मानो कर्म का और वृद्धावस्था मानो ज्ञान का उपदेश है। रामायण में चार घाटों की कल्पना की गई – ज्ञान, कर्म, भक्ति और शरणागति। रामायण के ये चारों घाट मनुष्य के शरीर में ही बने हुए हैं। शरीर में यदि बने हुए हैं, अतः आपको लगेगा कि ये चारों सत्य हैं और चारों का अनुभव आप जीवन में करते हैं। एक बालक जो है, नन्हा-सा शिशु जो है, वह क्या है? उसमें कौन-सी योग्यता है, कौन-सी विशेषता है? हम पढ़ते हैं कि भगवान जिसे शरण में लेते हैं, उसके गुण-अवगुण नहीं देखते। भगवान परम कृपालु हैं। भगवान जीव पर अकारण ही कृपा करते हैं। शरणागति के सिद्धान्त में इसका बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। कई लोगों को यह बड़ा अटपटा लगता है। इस विषय में सन्देह हो सकता है, पर उत्तर तो आपकी बाल्यावस्था ही देती है। बाल्यावस्था में हमारे आपके प्रति माँ का जो स्नेह है, वह किस योग्यता को लेकर है, किस गुण को लेकर है? विद्वत्ता को लेकर है? या सामर्थ्य को लेकर है? या स्वच्छता को लेकर है? बाल्यावस्था में आपको कुछ नहीं मिलेगा। बच्चा इतना असमर्थ है कि उठकर खड़ा भी नहीं हो सकता। अपनी योग्यता के नाम पर वह शुद्ध भाषा बोलना भी नहीं जानता, शब्दों को भी प्रगट नहीं कर सकता। तो उसमें शब्दगत योग्यता भी नहीं है, उसमें शरीरगत योग्यता भी नहीं है। यदि स्वच्छता की बात करें, तो बालक बेचारा गन्दगी में लिपटा हुआ भी पड़ा रह सकता है। इतनी असमर्थता जो बाल्यावस्था में जुड़ी हुई है और इतना होते हुए भी माँ को उस बच्चे से कितना प्यार है, उसकी कितनी चिन्ता है! इतना सब दिखाई देने पर भी आपको शरणागति के सिद्धान्त पर अविश्वास क्यों होता है?

इस सत्य का अनुभव आपने स्वयं अपनी बाल्यावस्था में किया है। यदि आप यह अनुभव करते हैं कि संसार में जन्म देनेवाली माता में जब इतना वात्सल्य हो सकता है, तो क्या आपकी यह धारणा है कि उस जगज्जननी में इससे कम वात्सल्य होगा? यदि आप ऐसा सोचते हैं, तो आप नहीं सोच पा रहे हैं। हनुमानजी की लंका-यात्रा क्या है? संसार में छोटे से बड़े बनने की यात्रा है। बड़े के रूप में तो वे साक्षात् भगवान शंकर हैं। उनसे तो बड़ा कौन होगा? बड़े होने पर भी, जब भगवान श्रीराम ने अवतार ले लिया, तो वे ज्योतिषी बनकर उनका दर्शन करने गये। देव-शरीर के स्थान पर मनुष्य-शरीर ले लिया और छोटे हो गये। शंकरजी यदि अपने शंकर रूप में ही अयोध्या में चले आते और कौशल्याजी से कहते कि जरा अपने बालक को लाओ। तो स्वाभाविक ही था कि उन सर्पों से लिपटे हुए मुण्डमालाधारी को कौन

माँ अपना बच्चा लाकर दिखायेगी? वह तो कह देगी कि नहीं, नहीं, मेरा बालक तो डरकर आतंकित हो जाएगा। तो गोस्वामीजी के शब्दों में शंकरजी पार्वतीजी को सुनाते हैं –

औरउ एक कहउँ निज चोरी ।
सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी ।।
काकभुसुंडि संग हम दोऊ ।
मनुजरूप जानइ नहिं कोऊ ।।
परमानंद प्रेम सुख फूले ।
बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले।। १/१९६/३-५

काकभुशुण्डि और मैं मनुष्य बनकर अयोध्या गये और वहाँ की गलियों में घूम रहे हैं। उसके बाद श्रीराम के निकट पहुँचने के लिये ज्योतिषी भी बन गये। माँ ने बालक का हाथ दिखाया, तो उसे देखकर प्रसन्न भी हो गये। लेकिन भगवान शंकर को जब यह लगा कि चरणस्पर्श का सौभाग्य प्राप्त कर लें, तो वे माँ की धार्मिकता से परिचित थे। माँ सरलता से स्वीकार नहीं करेगी। अत: उन्होंने कहा, ''बालक के समस्त फल तो उत्कृष्ट ही हैं, पर कुछ-न-कुछ कष्टसूचक ग्रह तो होते ही हैं; उनमें से अनेक उपायों में से एक उपाय यह है कि इस बालक के चरण को यदि मैं अपने मस्तक से छुला लूँ, तो इस स्पर्श से इसके सारे अनिष्ट दूर हो जाएँगे।'' पर माँ मर्यादा में बद्ध है, बोली – कोई अन्य उपाय बता दीजिये। ऐसा आचरण मैं अपने बालक से कभी होने नहीं दूँगी। बस, तभी से शंकरजी का और काकभुशुण्डिजी का साथ छूट गया। देखने के लिये दोनों गुरु-शिष्य बनकर आये थे। काकभुशुण्डिजी फिर से कौवे बन गये और पाँच वर्ष तक भगवान के साथ खेलने का आनन्द लिया –

बरष पाँच तहँ रहउँ लोभाई ।। ७/७५/४

शंकरजी विचार करने लगे – चेला आगे बढ़ गया और मैं पिछड़ गया। मैं तो पास से देखने के बाद भी केवल हाथ छू सका और यह तो प्रभु की शिशु-लीला पर लुब्ध होकर पाँच वर्षों से वहीं रहकर आनन्द ले रहा है। काकभुशुण्डि ने शंकरजी का साथ क्यों छोड़ दिया था? उन्होंने अनुभव किया कि शंकरजी को तो भगवान का हाथ छूने को मिल गया, पर मुझे तो वह भी नहीं मिला। अब कौवा बन जाना ठीक है। काकभुशुण्डिजी को लगा कि मैं कौवे से मनुष्य बना, तो प्रभु से दूर हो गया, अत: हमारा कौवा होना ही ठीक है। गरुड़जी ने पूछा – जब आप अपनी इच्छानुसार चाहे जो शरीर ग्रहण कर सकते हैं, तो फिर कौवा ही क्यों बने रहते हैं? इस पर वे बोले – इस शरीर के द्वारा मुझे भक्ति का जो सुख मिला, वह सुख हमें अन्य किसी शरीर से नहीं मिला, इसीलिए –

एहिं तन राम भगति मैं पाई ।
ताते मोहि ममता अधिकाई ।। ७/९४/७

इधर शंकरजी को एक दूसरा ही गणित सूझा। उन्हें लगा कि अब मुझे और भी छोटा बनना होगा। वे इस निर्णय पर पहुँचे कि जब ब्राह्मण बनकर ईश्वर के पास गये, तो उनका केवल हाथ ही छूने को मिला; अब बन्दर बनेंगे, तभी चरण छूने को मिलेगा। अत: मनुष्य से भी छोटे – बन्दर बन गये। पर इसके बाद भी, तब और भी छोटे बनने की यात्रा प्रारम्भ हुई, जब वे लंका गये। वहाँ तो उन्हें बड़े रूप, छोटे रूप तथा और भी अनेक रूप बनाने पड़े। परन्तु जब उन्होंने अशोक-वाटिका में प्रवेश किया, तो अत्यन्त छोटे बनकर –

तरु पल्लव महुँ रहा लुकाई ।
करइ बिचार करौं का भाई ।। ५/८/१

मानो यह शरणागति की यात्रा है – बड़े बनने की यात्रा नहीं है। बड़ा बनकर बालक कुछ कुछ पा नहीं लेता, बल्कि खोता ही है। अब हनुमानजी को शंकरजी के रूप में क्या पाना है? अब वे जिस रस को पाना चाहते हैं, माँ के मुख से जो 'शब्द' सुनना चाहते हैं, उसके लिये छोटे-से-छोटे होने पर भी, इतनी बढ़िया कथा सुनाने पर भी, बड़ी-बड़ी बातें कहने पर भी, वह 'शब्द' सुनने को नहीं मिला। लेकिन एक बात उनके मुख से ऐसी निकल गई, जिसे सुनकर माँ का वात्सल्य फूट पड़ा। हनुमानजी ने माँ को कथा सुनाते हुए, प्रभु की महिमा बताते हुए अन्त में जब कहा – माँ, आप घबराइये नहीं, धैर्य धारण कीजिये, कुछ ही दिनों बाद प्रभु बन्दरों को लेकर यहाँ आएँगे –

कछुक दिवस जननी धरु धीरा ।
कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा ।। ५/१६/४

वह नन्हा-सा बन्दर! हनुमानजी का शरीर उस समय छोटा-सा था और जब वे बोले – हम आकर आपको छुड़ाकर ले चलेंगे, तो सहसा माँ के मुँह से निकल पड़ा – बेटे, सब तुम्हारे ही बराबर हैं क्या? –

हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना । ५/१६/६

प्रसन्न हो गये। सोचा – देखो, न ज्ञान काम आया, न वैराग्य; नासमझी काम आ गई। वस्तुत: यह कहना कि हम ईश्वर की सहायता करेंगे – यह कोई ज्ञान या समझदारी की बात नहीं है। ये अभी तक जो कहे जा रहे थे – माँ! प्रभु के बाण-रूपी सूर्य का उदय होने पर राक्षसों की सेना-रूपी अन्धकार भला कहाँ टिक सकता है? –

राम बान रबि उएँ जानकी ।
तम बरूथ कहँ जातुधान की ।। ५/१६/२

जब कहा – प्रभु के बाणों में बड़ी शक्ति है, तब तो 'पुत्र' नहीं बोलीं। पर जब बोले कि हम आपको छुड़ाकर ले चलेंगे, तो लगा कि बच्चे जैसे नासमझी की बात बोलते हैं, यह बन्दर भी वैसी ही बात बोल रहा है। बोली – ''पुत्र, क्या सब बन्दर तुम्हारे ही जैसे हैं? तब तो कष्ट उठाने की जरूरत नहीं है। वैसे तुमने बात अच्छी कही।'' हनुमानजी बड़े प्रसन्न

हुए, परन्तु अब बड़े संकट में पड़े। माँ को अगर सन्देह बना रहेगा, तो इनकी निराशा बढ़ेगी। माँ ने 'पुत्र' कह तो दिया, पर माँ का सन्देह दूर करना भी तो पुत्र का कर्तव्य है। तो माँ के सामने एक क्षण के लिये अपना विशाल रूप प्रगट किया और उनके मन में विश्वास पैदा करके पुन: छोटे बन गये –

सुनि कपि प्रगट कीन्हि निज देहा ।।
सीता मन भरोस तब भयऊ ।
पुनि लघु रूप पवनसुत लयऊ ।। ५/१६/६,९

पुन: छोटे बन जाने के पीछे क्या तात्पर्य था? 'पुत्र' तो कह दिया, पर कहीं मेरा बड़ा शरीर देखकर मुझे 'बड़ा पुत्र' न मान ले। तब तो बड़ा अनर्थ हो जायगा। पुत्र भी बनना है, तो बिल्कुल छोटा पुत्र बनना है। जब माँ ने पूछा – यह तो बड़ी विचित्र-सी बात है, तुम इतने छोटे और अब इतने बड़े? तो हनुमानजी बोले – मैं तो छोटा ही हूँ, हमारे प्रभु का प्रताप कितना बड़ा है, यह आपके सामने आया –

प्रभु प्रताप तें गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल ।। ५/१६

तब माँ ने वही आशीर्वाद दिया, जो नन्हें बालक को दिया जाता है – वृद्ध न होवो, अमर हो जाओ, तुममें समस्त गुण आ जायँ – यह वरदान तो उन्होंने दिया ही, पर जब उन्होंने यह कहा – "हनुमान, मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ कि प्रभु तुमसे प्रेम करें, प्रभु तुमसे छोह करें।" तब हनुमानजी बोले – "अब मैं कृतकृत्य हो गया।"

यह कृतकृत्यता या तो ज्ञानी तत्त्वज्ञ को मिलती है या छोटे बालक को। क्योंकि माँ तो उसको कुछ करने के लिये कहेगी नहीं, माँ का ध्यान तो यही होगा कि मेरा बालक खूब सोये। माताएँ इस बात का बड़ा ध्यान रखती है कि बच्चा खूब गहरी नींद में सोये। इसीलिये शरणागत लोग या इस सिद्धान्त को माननेवाले जो बात कहा करते हैं, इस विषय में व्यासजी का वह बड़ा प्रसिद्ध दोहा है। उनसे पूछा गया – आप किसके भरोसे रहते हैं? क्या साधन करते हैं? तो वे बोले – मैं तो श्रीराधारानी के भरोसे निश्चिन्त सोता हूँ –

काऊके बल भजन को, काऊ तप आधार ।
व्यास भरोसे कुँवरि के, सोवत पाँव पसार ।।

और तुलसीदासजी कवितावली (१०९) में कहते हैं –

सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के ।।

यही शरणागत भक्त की निश्चिन्तता की अनुभूति है, जिस अनुभूति में हनुमानजी से कुछ करने के लिये कहा ही नहीं गया। भक्ति करने को भी नहीं कहा गया। जैसे माँ अपने नन्हे बालक से कुछ करने के लिये नहीं कहती हैं। अब जो कुछ करना है, सब माँ को ही करना है।

फिर भी हनुमानजी को थोड़ी-सी चिन्ता बनी हुई थी कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि वह पुराना बड़ा रूप दिखाकर मैंने भूल की हो ! अच्छी तरह से जाँच लें कि छोटा पुत्र मान रहीं है या बड़ा? अत: कहने लगे – माँ, मुझे बड़ी भूख लगी है। देखें, अब क्या कहती हैं। पर जब माँ ने कहा – "पुत्र, मैं आज्ञा तो दे देती, पर इतने बड़े राक्षस पहरा दे रहे हैं", तो वे अति प्रसन्न हो गये। अभी अजर-अमर होने का अशीर्वाद दिया और अब जो चिन्ता कर रही हैं, जो छोटे बच्चे के प्रति ही होती है, बड़े के प्रति नहीं।

तो जिन्हें शरणागति का सिद्धान्त व्यर्थ लगता है, वे अपनी बाल्यावस्था के सत्य को नहीं देख रहे हैं। उसमें भी शरणागति का तत्त्व छिपा हुआ है। किशोरावस्था में उसी व्यक्ति की दो तरह की भूमिका है। एक ओर वात्सल्य भी पा रहा है और साथ ही शिक्षालय में शिक्षा भी ले रहा है। यह मानो भक्ति का साधना मूल पक्ष है – संतों का संग –

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा । ३/३४/८

ठीक है, माँ तो वात्सल्यमयी है, पर बालक को भी योग्य बनना है। तो भक्ति साधना का पक्ष मानो किशोरावस्था के माध्यम से दिखाई दे रहा है। युवावस्था में व्यक्ति में कर्म करने की, पुरुषार्थ करने की जो शक्ति है, वह मानो इसी रूप में दिया गया है। और उसके बाद वृद्धावस्था। तब उसका शरीर भले ही उतना स्वस्थ न हो, पर उसने अपने जीवन में जो अनुभव पाये हैं, उनके द्वारा वह वृद्धावस्था में परिपक्व बुद्धि के द्वारा ज्ञान का सन्देश पा सकता है।

इसका अर्थ यह नहीं कि नन्हा बच्चा ही शरणागति की अवस्था में होगा, किशोर ही भक्त होगा, युवक ही कर्ममार्गी होगा और वृद्ध ही ज्ञानी होगा। एक ही शरीर के साथ चारों अवस्थाएँ जुड़ी हुई हैं और ये चारों तो अपनी-अपनी मानसिक मनोभूमि है। यदि हम अपनी मानसिक मनोभूमि का ठीक-ठीक सदुपयोग करते हैं, तो शरीर का यह सत्य, शरीर की यह अनुभूति, हमारे लिये प्रेरक बनकर साधन-पथ के लिये उपयोगी बन सकती है।

यह सूत्र मानो यह बताने के लिये है कि महाराज मनु के जीवन में दो बातें बड़े महत्त्व की हैं और वे दोनों सूत्र समझ लेने योग्य हैं। वस्तुत: मनु का चिन्तन क्या है? उनको बड़ा दु:ख हुआ। किस बात का? पत्नी उनकी परम पतिव्रता, पुत्र आज्ञाकारी और समाज में खूब सम्मान भी था। पर जब हम किसी दवा का सेवन करते हैं, तो शरीर पर उसका परिणाम देखने पर ही हम मानते हैं कि दवा काम कर रही है। मनु जब वृद्ध हुए, तो उनको ऐसा लगा कि धर्म का जो परिणाम मेरे जीवन में होना चाहिए था, वह अभी नहीं हुआ। बोले – मेरे धर्म पालन में अभी कोई-न-कोई कमी रही होगी, नहीं तो मेरे जीवन में वैराग्य आना चाहिये था –

होइ न विषय बिराग भवन बसत भा चौथपन ।
हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरि भगति बिनु।१/१४२

यह बहुत बड़ा सूत्र है – धर्म के सन्दर्भ की जो भ्रान्ति है, वह प्रतापभानु के जीवन में है और मनु के जीवन में नहीं है। धर्मपालन का फल क्या होगा? प्रतापभानु ने धर्मपालन का वही फल माना, जो संसार के अधिकांश लोग मानते हैं। यहाँ धर्म की सारी समस्याएँ दिखाई दे रही हैं। वह सत्यकेतु का पुत्र है। सत्यकेतु ने उसे राज्य दे दिया और वन में चले गये। उसके बाद प्रतापभानु ने सिंहासन पर बैठने के बाद यह निर्णय किया कि वह देश के सारे राजाओं को जीतेगा।

कृपया ध्यान दें, धर्म के सन्दर्भ में यह एक बड़ा महत्त्वपूर्ण सूत्र है। प्रतापभानु ने राजाओं के इतिहास में पढ़ा कि विजयादशमी सीमोल्लंघन का पर्व है। वह अपने राज्य की सीमा को पार करके दूसरे राज्य की सीमा में प्रवेश करने का एक विशेष पर्व है। शास्त्रों ने जहाँ विविध वर्णों का धर्म लिखा है, वहीं इसे राजा का धर्म बताया है। पुराणों में राजधर्म के वर्णन में यह परम्परा मिलती है कि राजा लोग आक्रमण करते थे, युद्ध करते थे, सीमा का विस्तार करते थे और यह मानकर चलते थे कि यह क्षात्र धर्म के अनुकूल है। धर्म के सन्दर्भ की बहुत बड़ी समस्या एक यह है कि धर्म की जब एकांगी व्याख्या होती है, तो उसी प्रकार के भ्रम होते हैं जैसे प्रतापभानु के जीवन में हुआ। उसे यह भ्रम हुआ कि लिखा है – क्षत्रिय का धर्म युद्ध करना है। गीता में भगवान कृष्ण ने उपदेश दिया – अर्जुन, स्वर्गद्वार को अनावृत्त करने वाला ऐसा युद्ध जो अभीष्ट होता है, वह युद्ध तुम्हें मिल रहा है। इससे बढ़कर तुम्हारा क्या धर्म होगा? –

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारम् अपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।। २/३२

क्षत्रिय का धर्म युद्ध करना है। भगवान कृष्ण भी गीता में कहते हैं कि क्षत्रिय का धर्म युद्ध करना है। रामायण में भी उसे दूसरे सन्दर्भ में इसी प्रकार से उद्धृत किया गया है –

छत्रिय तनु धरि समर सकाना ।
कुल कलंकु तेहिं पावँर जाना ।। १/२८३/३

गीता में, रामायण में या अन्यत्र भी, जहाँ धर्म का उपदेश दिया गया है, वहाँ ऐसे वाक्य मिलेंगे। पर क्या इन वाक्यों को सारे सन्दर्भ से काटकर लेना है या सबके साथ जोड़कर लेना है? यह एक बहुत बड़ी समस्या है। मेरा निवेदन है कि आप गीता, रामायण या धर्मशास्त्र की किसी भी पँक्ति को कभी अलग से मत पढ़िये। एक पंक्ति या एक श्लोक को पढ़कर आप उसके माध्यम से निर्णय करेंगे, तो शायद आपका निर्णय बड़ा भ्रान्तिपूर्ण होगा।

धर्म का जो वर्णन उपरोक्त रूप में हुआ है, प्रतापभानु ने वही माना। लिखा हुआ है कि जब वह राजा हुआ तो उसने पण्डितों से कहा – शास्त्र का आदेश है कि क्षत्रिय को सीमा का विस्तार करना चाहिये, अतः हम सेना लेकर आक्रमण करेंगे और सारे संसार के राजाओं को पराधीन बनाएँगे –

सुदिन साधि नृप चलेउ बजाई ।। १/१५४/५

गीता और रामायण में जो क्षत्रिय धर्म लिखा हुआ है, उसे सन्दर्भ से मत काटिए। इससे बहुत बड़ी समस्या आती है। कभी-कभी मैं देखता हूँ, जिनको रामायण की एक-दो चौपाइयाँ याद हैं, उनको वे इतनी बार दुहराते हैं और इतनी समस्या उत्पन्न कर देते हैं कि सारी रामायण को झूठी प्रमाणित कर देते हैं और उन एक या दो वाक्यों को ही सही मानते हैं –

ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी ।। ५/५९/६

बस, मिल गया, हो गया। भले ही भगवान राम ने कितने ही शूद्र को गले लगाया हो, मित्र बनाया हो, बराबरी का मान दिया हो, वह सब झूठा है। 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी' – बस इतना ही उन्हें रामायण में सत्य दिखता है। तो व्यक्ति जब इस प्रकार पढ़ता है, तो वस्तुतः वह कहीं-न-कहीं भ्रान्त हो जाता है। साधारण व्यक्ति ही नहीं, प्रतापभानु जैसा व्यक्ति भी भ्रम में पड़ गया।

वस्तुतः धर्म का कार्य वह नहीं है, जैसा लोग समझते हैं। क्या आप समझते हैं कि लोगों की सहज प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करना धर्म का उद्धेश्य हो सकता है? हम लोग जो कुछ सहज भाव से करते रहते हैं, जो हमारा नित्य का स्वभाव है, यदि धर्म भी वही उपदेश दे रहा है, या धर्मशास्त्र उसका समर्थन कर रहा है, तब तो आपने सही नहीं समझा। शास्त्र की बुद्धिमत्ता और धर्म की समस्या यह है कि मनुष्य के मन में कुछ वृत्तियाँ हैं और उन्हें सीधे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, नकारा नहीं जा सकता, तो उन वृत्तियों को संयमित करके, नियमित करके उनको सही दिशा में कैसे मोड़ा जाय। तो प्रवृत्तियों को मोड़ने के लिये जो वाक्य कहते हैं, वे वस्तुतः आदर्श वाक्य न होकर केवल एक सीमा तक ही उपयोगी वाक्य है। एक दृष्टान्त लें – एक बालक को पढ़ाई के लिये भेजना है और बालक को मिठाई बड़ी प्रिय है। माँ यदि उस बच्चे से कहे कि तुम अच्छे-से पढ़ोगे, तो मैं तुम्हें मिठाई दूँगी, तो माँ का उद्देश्य बालक को मिठाई का अभ्यस्त बनाना नहीं है। कई माताएँ बना ही देती हैं, तो कभी बच्चे के दाँत में रोग होगा, तो कभी पेट में। माँ का उद्देश्य तो बस इतना ही है कि बच्चे के मन में एक तरह के स्वाद के प्रति जो आकर्षण की वृत्ति है, उसका सदुपयोग कैसे करें, इसीलिए वह मिठाई का प्रलोभन देकर उसे पढ़ाई की दिशा में प्रेरित करना चाहती है। यही शास्त्रों की पद्धति है। उन्होंने जब देखा कि किसी मनुष्य में रजोगुणी प्रवृत्ति होती है, किसी में सतोगुणी होती है और किसी में तमोगुणी होती है। उन वृत्तियों का सदुपयोग कैसे किया जाय? तो उन्होंने क्या लिखा? गीता में ही आप देखेंगे। भगवान अर्जुन को यह भी कहते हैं – स्वर्गद्वार को खोलनेवाला –

स्वर्गद्वारम् अपावृतम् ।। २/३२

परन्तु बाद में वे उपदेश देते हुए कहते हैं – वेद से भी ऊपर उठो, क्योंकि ये तो स्वर्ग आदि की ही चर्चा करते रहते हैं। दोनों बातें परस्पर विरोधी लग रही हैं। एक ओर कहें कि निष्काम कर्म करो और दूसरी ओर स्वर्ग का लोभ दिखाएँ, तो ये परस्पर विरोधी-सी बातें लगती हैं, पर वस्तुत: ऐसा नहीं है। मिठाई के लालच से धीरे-धीरे पढ़ाई करते हुए उसी में रस आने लगे, यही शास्त्र का उद्देश्य है।

कुछ लोग पुरुषार्थी होते हैं, शक्तिशाली होते हैं और संघर्ष समाज में अपेक्षित भी होता है, आवश्यक भी होता है। रजोगुण की प्रवृत्ति के नियमन तथा सदुपयोग हेतु शास्त्रों ने दो कार्य किये। रजोगुणी को युद्ध के साथ जोड़कर उसके साथ ही युद्ध को यज्ञ के साथ जोड़ दिया। परम्परा यह थी कि जो राजा अन्य सब राजाओं को जीतकर चक्रवर्ती सम्राट बनना चाहता है, वह अश्वमेध यज्ञ करे और उसके लिये विश्वविजय प्राप्त करे। कितनी चतुराई से वृत्ति का सदुपयोग किया गया है। सीधे नहीं कहा, बल्कि उसको यज्ञ के साथ जोड़ दिया। यज्ञ के लिये युद्ध करो। अन्तर बस इतना ही है ! भगवान कृष्ण कहते हैं, युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है। परशुरामजी भी श्रीराम से कहते हैं कि तुम क्षत्रिय हो, युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है या नहीं? भगवान राम कहते हैं – बिल्कुल है। – तो मैं चुनौती देता हूँ। तुम मुझसे युद्ध करो।

प्रभु ने धर्म की जो व्याख्या की, वह बड़ी अनोखी थी। अन्यथा उन्हें तो परशुरामजी से लड़ जाना चाहिये – अच्छा ठीक है, मैं तो क्षत्रिय हूँ, जब आप लड़ने के लिये चुनौती दे रहे हैं, तो आइये, हम अपने धर्म का पालन करेंगे। पर भगवान राम ने उसके साथ दो प्रश्न जोड़ दिये – महाराज, क्षत्रिय का धर्म लड़ना है, पर किससे लड़ना है, यह प्रश्न भी तो उसके साथ जुड़ा रहेगा। क्या रास्ता चलते जो भी मिल जाय, उसी से लड़ जाना धर्म है कि क्षत्रिय महोदय, उसे चुनौती दीजिये – हम क्षत्रिय हैं, हमसे लड़ लीजिये। भगवान कहते हैं – महाराज, लड़ना भला धर्म कैसे हो सकता है? ठीक है, लड़ना भी पड़ता है, लड़ना चाहिए भई, परन्तु प्रश्न यह भी तो उठता है कि किससे लड़ना चाहिए? वे बड़ी विनम्र भाषा में बोले – महाराज, आप मुझसे कह रहे हैं कि क्षत्रिय का धर्म लड़ना है, पर आपने स्वयं तो ब्राह्मणत्व के प्रति आस्था प्रगट की, तो ब्राह्मण का धर्म भी आप अवश्य जानते होंगे। भगवान राम बड़ी विन्रम भाषा में बोलते हैं –

चहिय बिप्र उर कृपा घनेरी ।। १/२८२/४

ब्राह्मण का धर्म कृपा है और महाराज, आप मुझसे कह रहे हैं कि मेरा धर्म लड़ना है, तो यह बताइये कि जो कृपा कर रहा है, क्या उससे लड़ना भी धर्म हो सकता है? संकेत यह था कि न आपको लड़ने के लिये प्रस्तुत होना चाहिये और न मुझे। मैं कैसे लड़ूँ?

हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा ।। १/२८२/५

बिना बताये बता दिया कि युद्ध आपको भी शोभा नहीं देता और मेरे लिये भी उपयुक्त नहीं है। प्रतापभानु यहीं भटक गया। उसने युद्ध को ही धर्म मान लिया और धर्म की यही व्याख्या उसके जीवन में महान् शत्रु बनी। उसने वही क्षत्रिय धर्म अपनाया और सबको हराया, पर एक राजा विद्रोही हो गया। वही प्रतापभानु का शत्रु बना, उसी ने उसके सर्वनाश की योजना बनाई और उसी ने षड्यंत्र करके उसे परास्त किया। तो प्रश्न यही है कि शास्त्रों ने जो धर्मवाक्य कहे हैं, उन्हें परिणाम तक पहुँचाइये, उनके लक्ष्य तक देखिये, केवल वाक्य को न पकड़ लीजिये। मनु कहते हैं कि धर्म का मूल उद्देश्य है व्यक्ति के जीवन में राग या आसक्ति को कम करते-करते अन्त में वैराग्य की सृष्टि करना –

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना ।
ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना ।। ३/१५/१

यदि धर्म का पालन करते हुए राग या आसक्ति बढ़ रही है, तो वह धर्म सही नहीं है। और यदि धर्म का पालन करते हुए वैराग्य बढ़ रहा है, तो यही धर्म का सही रूप है। ऐसा मनु ने निर्णय किया। इस सन्दर्भ में एक बात याद आती है। महाराज रघु के पिता महाराज दिलीप सूर्यवंश के महानतम राजाओं में एक थे। उन्होंने शास्त्रों में सुना कि सौ अश्वमेध यज्ञ करने से इन्द्र का पद मिलता है। उन्होंने निन्यानबे यज्ञ पूरे कर लिये, पर सौवें अवश्वमेध यज्ञ का घोड़ा चोरी चला गया। बाद में पता चला कि उस घोड़े को इन्द्र चुराकर ले गया। रघु को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने निर्णय किया कि हम उस घोड़े को छीनकर वापस लायेंगे। लेकिन देखिये ! एक व्यक्ति तो यह सोचकर दुखी हो जाता कि निन्यानबे यज्ञ पूरे हो गये, हाय-हाय सौंवा अधूरा रह गया, बड़ा अनर्थ हुआ। लेकिन होना क्या चाहिये? जो मनु के जीवन में आया – 'धर्म ते बिरति', 'होइ न विषय विराग' – विषयों से वैराग्य हो गया। राजा दिलीप के साथ भी ऐसा ही हुआ। वे बोले, "मुझे सौ यज्ञ पूरा करने की कोई आवश्यकता नहीं है।" किसी ने राजा दिलीप से पूछा, "क्यों? इतना प्रयत्न किया, अब ऐसा क्यों सोचते हैं?" वे बोले, "जब मैंने देख लिया कि सौ अश्वमेघ यज्ञ करके इन्द्र बनने वाले की चोरी करने की आदत नहीं गई, तो मैंने सोचा कि इन्द्र न बनना ही अच्छा है।" यही दृष्टि है, तो धर्म का आप अर्थ क्या लेते हैं? मनु इस निष्कर्ष पर पहुँचे – विषयों से वैराग्य।

राजा प्रतापभानु धर्म का पालन करते हुए राग और प्रलोभन की दिशा में आगे बढ़ता गया और महाराज मनु ने त्याग-वैराग्य और ईश्वर-प्राप्ति को धर्म का लक्ष्य बनाया।

❖ (क्रमशः) ❖

सारगाछी की स्मृतियाँ (१८)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। – संपादक)

१७-१-१९६०

श्री रामकृष्ण-वचनामृत का पाठ हो रहा है। ठाकुरजी माँ काली के भाव में वराभय मुद्रा में विराजमान हैं।

महाराज – इसके पहले किसी अवतार में भी ऐसा नहीं देखा गया। ठाकुरजी के प्रत्येक समाधिस्थ चित्र में ही वराभय मुद्रा है। बाद में जान सकोगे। पहले मैं गोविन्दजी की पूजा करता था। बाद में श्रीचैतन्य-चरितामृत पढ़ कर मतवाला हो गया, किन्तु अन्त में 'श्रीरामकृष्ण-कथामृत' पढ़ने पर यही सर्वश्रेष्ठ लगा।

१८-१-१९६०

'स्वामी-शिष्य संवाद' ('विवेकानन्द के संग में') नामक पुस्तक में कृपा की बात पढ़ी जा रही है। महाराज ने सुनकर कहा – कृपा के विषय में यही अन्तिम बात एवं सबसे सुन्दर बात है। जो लोग साधन-भजन न करके 'कृपा-कृपा' करते रहते हैं, वे लोगों पलायनवादी मनोवृत्ति के हैं। यदि सचमुच ही कोई कृपा पर निर्भर करके रहता है, तो वह ईष्ट-चिन्तन में तन्मय होकर रहेगा। यदि उन्हें प्राप्त करने की प्रबल इच्छा न हो, तो उनकी कृपा पर निर्भर रहने का प्रश्न ही नहीं आता। जो लोग साधु होंगे, उनलोगों में ईश्वर को प्राप्त करने की प्रबल इच्छा होगी एवं ईश्वर में प्रेमाकर्षण होगा। नहीं तो, नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनकर रहना इससे अच्छा है।

२०-१-१९६०

मठ के पूज्यपाद उपाध्यक्ष महाराज सारगाछी आश्रम में आयेंगे एवं दीक्षा देंगे। प्रेमेश महाराज के चिकित्सक की दीक्षा होगी। किन्तु पहले ही उन्हें स्वप्न में कोई मंत्र मिल चुका है।

महाराज – आपको स्वप्न में जो मिला है, सो मिला है, अभी एकदम जाग्रत सिद्ध गुरु के मुँह से आप जो सुनेंगे, वही ठीक होगा। स्वप्न की बातें कभी-कभी बहुत अच्छी होती हैं, किन्तु कई बार गलत भी होती हैं।

मैंने देखा कि एक युवक प्रसाद, चरणामृत आदि लेकर मस्त है। वह भी एक प्रकार का है ! वास्तव में ईश्वर की ओर मन नहीं है। फिर भी हमलोग उन सब चीजों को खराब नहीं कहते हैं, बहुत सम्मान करते हैं। किन्तु केवल यही सब लेकर मस्ती में रहना, ये सब कैसा लगता है ! इसके अतिरिक्त ये सब लोक-प्रदर्शन हैं और लोगों के समक्ष अपने को बड़ा दिखाने का भाव मन में रहता है।

१६-२-१९६०

सेवक – महाराज, क्या ठाकुर जी से अधिक स्वामीजी की करुणा नहीं थी? जैसे हम लोग देखते हैं, ठाकुर जी ने कितना छाँट कर लिया है, उनके तो सभी हीरे के टुकड़े हैं।

महाराज – देखो, ठाकुर जी ठीक निर्गुण ब्रह्म के एक सोपान नीचे थे, पूर्ण भगवान के रूप में ही थे। अन्य अवतारों में वे लोग मानव का रूप धारण करते थे और मानव के समान आचरण करते थे। किन्तु ठाकुर बचपन से ही भगवान की तरह हैं, मनुष्य का हाव-भाव, आचरण कम है। लगता है कि ईश्वर पर केवल एक आवरण पड़ा हुआ है। विद्या-माया का आवरण मात्र है। सर्वदा भाव समाधि में रहते हैं। लोगों ने जम्हाई लेते समय भी थोड़ा-सा ईश्वर का नाम लिया, उसी से वे समाधिस्थ हो जाते थे। इसलिये उनके लिये सामान्य मनुष्यों के साथ चलना-फिरना असम्भव था। स्वामी सारदानन्द जी महाराज ने लिखा है – "लगता है पानिहाटी में 'भावतनु' में हैं।" इसीलिये उनके द्वारा संसार में विचरण करना बहुत कठिन होता था।

१-३-१९६०

सेवक – रामकृष्ण मिशन की नियमावली को देखने पर उसमें दो स्थानों पर विरोधात्मक प्रतीत होता है। जैसे – स्वामीजी ने कहा है कि ज्ञान, कर्म, भक्ति और योग के एक या दो अथवा इससे अधिक की सहायता से जो लोग ईश्वर-प्राप्ति के लिये कोशिश कर रहे हैं, वे ही इस संघ के अंग हो सकते हैं। फिर थोड़े बाद में ही है – ज्ञान, कर्म, भक्ति एवं योग के समन्वय को छोड़कर रामकृष्ण-भावधारा में गति नहीं है।

महाराज – इस विरोधाभास प्रतीत होनेवाले का भी समन्वय किया जा सकता है। इसके बारे में हमलोगों को बहुत दिनों तक विचार करना पड़ा था। प्रथम प्रश्न योग्यता का है। पहला गुण 'योग्यता' रहने से वह संघ के योग्य है, बाद में जब वह चारों योगों का समन्वय कर सकेगा, तभी वह संघ का वास्तविक अंग होगा।

परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिये पढ़ना और आध्यात्म-शास्त्र पढ़ना दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर है। यहाँ किसी एक तत्त्व का दीर्घकाल तक निदिध्यासन करके 'स्वयं के जीवन में आचरण नहीं करने से कुछ भी नहीं होगा। श्रीमद्भगवद्गीता में मन को स्थिर करने की बातें हैं – "अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते" – हे अर्जुन, अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को स्थिर किया जाता है।

सेवक – गोपाल की माँ का कैसा ज्ञान था?

महाराज – उनका ज्ञान कैसा है, जानते हो? घर में मूल्यवान वस्तु पड़ी हुई है, किन्तु उधर ध्यान नहीं है। गोपियों की भी ऐसी ही शुद्धा-भक्ति थी। ठाकुरजी प्रार्थना कर रहे हैं – माँ मुझे ब्रह्मज्ञान मत दो, मुझे बेहोश मत करना। इसी को शुद्धा भक्ति कहते हैं।

६-३-१९६०

महाराज – कर्मफल भयंकर है, इसमें घुसने से ही संकट है। इसमें से बाहर निकलना बहुत कठिन है। सिलेट (बांगला देश) में एक लोकोक्ति है – 'पीठा बना रहे हो, खाने से समाप्त हो जायेगा।' क्यों पीठा बना रहे हो? नहीं खाने से कैसे समाप्त होगा? खाना ही पड़ेगा। इसमें प्रवेश ही क्यों किया? कर्मफल सभी को भुगतना होगा। कर्मफल तीन प्रकार के होते हैं – संचित कर्म, प्रारब्ध कर्म एवं क्रियमाण कर्म। जो मेरे पूर्व जन्मों का संचित है, वह संचित कर्मफल है – जैसे संस्कार है। उनमें से कुछ लेकर ही मेरा यह जीवन प्रारम्भ हुआ। जो कुछ कर्मफल लेकर इस जीवन की शुरुआत किया, उसी का नाम प्रारब्ध है। और क्रियमाण है – जो इस वर्तमान जीवन में कर रहा हूँ।

बैंक में तुम्हारा बहुत सा रुपया जमा है। उसमें से १० हजार रूपया लेकर एक मकान बना रहे हो। यह प्रारब्ध है। यह जीवन प्रारब्ध से ही है। प्रारब्ध का सब कुछ व्यय करना होगा। जितना भाग खर्च नहीं होगा, वह और क्रियमाण कर्मफल के कारण पुन: जन्म होगा।

सेवक – किन्तु, क्या इस कर्मफल से मुक्ति नहीं है?

महाराज – केवल ज्ञान होने पर ही मुक्ति होगी। ज्ञान होने से ही संचित कर्मफल से मुक्ति मिलती है। इसके अतिरिक्त उपाय नहीं है। प्रारब्ध भोग करना ही होगा। लेकिन ज्ञानियों की दृष्टि में प्रारब्ध-भोग कैसा है? "नैव किंचित् करोमीति।" – मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।"

सेवक – हम लोगों का यह जो सत्कर्म और परोपकार है, क्या इससे हम लोग मुक्ति के मार्ग पर चल रहे हैं?

महाराज – पुण्य कर्म से स्वर्ग मिलता है, उसके बाद फिर जन्म होता है। यदि निष्काम भाव से कर्म कर सको, तभी मुक्ति मिलेगी, नहीं तो, नहीं मिलेगी। किन्तु कर्म के बिना चित्तशुद्धि नहीं होगी। चित्त शुद्ध होने पर उसमें ज्ञान का विकास होगा। 'श्रवण आदि शुद्ध चित्ते करये उदय' – श्रवण आदि शुद्धचित्त में करने से उदय होता है। फिर ज्ञान नहीं रहने से उसमें प्रेम नहीं रहेगा। और उसमें प्रेम नहीं होने से योग तो होगा ही नहीं, कर्म और निष्काम भाव से ठाकुर की सेवा नहीं होगी। इसके कारण कर्म-बन्धन रह जायेगा।

मन के यथार्थ स्वर को पकड़ने की कोशिश करो। प्रतिदिन दिन के अन्त में मन से पूछो – मन तू क्या चाहता है? – काम, क्रोध, लोभ, मान और यश, क्या चाहता है? यदि लगता है कि बहुत अच्छा हूँ, समाज में, कर्म क्षेत्र में प्रतिष्ठा हुई है, सम्मान है, चारों ओर नाम-यश फैल रहा है और मन-ही-मन सोच रहो हो कि क्या प्रभु की असीम कृपा है! वे मुझे इतने गौरवशाली पद पर बैठाये हैं ! तब जानना कि ये सब भोग करने की इच्छा है। जैसे गृहस्थ लोग कहते हैं – सुन्दर स्त्री मिली है, लड़का हुआ, अधिक वेतन मिल रहा है, ये सब प्रभु की कृपा से ही हुआ है। तब तुम जानना कि इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। यदि तुम इसी में ही सन्तुष्ट रहते हो, तो यही पाओगे। इसका फल भी तुम्हें मिलेगा। केवल जो व्यक्ति उन्हें चाहता है, वही इसके बाहर जा सकता है।

"काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव: ।" मन में कामना, वासना रहने से उसमें बिघ्न होने पर व्यक्ति क्रोधित हो जाता है। कई बार हम सोचते हैं कि हम ठाकुरजी की सेवा-भाव से ही कर्म कर रहे हैं, हम निष्काम हैं। किन्तु तुम्हारे मन की परीक्षा कर्मक्षेत्र में निष्काम होने से होगी – रागद्वेष-वियुक्तैस्तु – व्यवहार में राग-द्वेषरहित होने पर होगा।

सेवक – आप जैसा कह रहे हैं, वैसा आचरण करने के लिये, तो १०-१२ घण्टे विचार करना होगा।

महाराज – समय मिलेगा, इसलिये तो घर-द्वार सब छोड़कर आये हो। विचार करना चाहिये, ध्यान करना चाहिये। अधिक समय तक विचार भी नहीं कर सकोगे और विचार न करके रह भी नहीं सकोगे। इसलिये परोपकार करना है।

अभी भी हमारे यहाँ कुछ भी तैयार नहीं है। देश में कोई भी नेता नहीं है। सबके साथ मिल-जुलकर कार्य करना नहीं जानते हैं। अभी अविकसित मुहल्ला में स्कूल खुला है। उसमें अच्छे-अच्छे लड़के कहाँ से मिलेंगे ! किन्तु निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। ईर्ष्या-द्वेष, यह सब तो रहेगा ही। हम सभी लोग संन्यासी होकर तो आये नहीं हैं, संन्यासी बनने के लिये प्रयास कर रहे हैं। इसके अलावा हमलोगों के आसपास का वातावरण विपरीत विचारों का है। यह जगत दु:खमय एवं भयंकर है, कहाँ से, किस रूप

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)
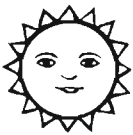
महाशक्ति की आराधना और नवरात्र
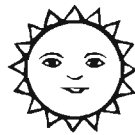
डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा

भारतवर्ष में सम्भवत: कोई भी ऐसा उत्सव और पर्व नहीं है, जिसका आध्यात्मिक पक्ष के साथ-साथ कोई मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पक्ष भी न हो, क्योंकि भारतीय मनीषा यह अनुभव करती है कि मनुष्य के व्यक्तित्व को खण्डित करके नहीं देखा जा सकता। मनुष्य का विकास और परिमार्जन उसके प्रति समग्र-दृष्टि रखकर ही किया जा सकता है। यही कारण है कि सभी पर्वों के साथ जहाँ एक ओर व्यक्ति के आध्यात्मिक उत्कर्ष की भावना जुड़ी है, वहीं दूसरी ओर उसकी सामाजिक समृद्धि और लौकिक सम्पन्नता का पक्ष भी अनिवार्य रूप से सम्बद्ध है।

'नवरात्र' का पर्व भी ऐसा ही एक पर्व है, जिसमें महाशक्ति की आराधना के द्वारा व्यक्ति के चारों पुरुषार्थों की सिद्धि सम्भव है। नवरात्र का यह पर्व वर्ष में दो बार आता है। पहला नवरात्र चैत्र शुक्ल-पक्ष और दूसरा अश्विन शुक्ल-पक्ष में मनाया जाता है। चैत्र और अश्विन के महीने क्रमश: वसन्त और शरद ऋतु के अन्तिम महीने ही नहीं हैं, अपितु इस कृषिप्रधान भारत देश की दो प्रमुख फसलों 'चैती' और 'कुआरी' की सम्पन्नता के भी प्रतीक हैं। जिन प्रदेशों में कुआरी अर्थात् क्वार या अश्विन मास की फसल का अधिक महत्त्व है, उन प्रदेशों में अश्विन नवरात्र समारोहपूर्वक मनाया जाता है। इसी कारण चैत्र-नवरात्र यदि उत्तरप्रदेश, पंजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश और बिहार के अंचलों में विशेष महत्त्व रखता है, तो अश्विन-नवरात्र की महिमा असम, बंगाल और उड़ीसा के क्षेत्र में अधिक है। बंगाल में तो अश्विन-नवरात्र का दूसरा नाम ही 'दुर्गापूजा' है। दुर्गापूजा का यह पर्व बंगाल की संस्कृति का अभिन्न अंग है; और अब तो सम्पूर्ण भारत-वर्ष में ही शारदीय नवरात्र की विशेष प्रतिष्ठा हो चुकी है।

नवरात्र का पर्व आसुरी शक्तियों पर दैवी शक्ति की विजय का प्रतीक है। हमारे देश में आध्यात्मिक और नैतिक शक्तियों को जाग्रत करने वाला यह सबसे लम्बे समय तक चलने वाला अनुष्ठान है। अति प्राचीन काल से ही शक्ति की उपासना के लिये नवरात्र का विशेष महत्त्व रहा है। 'नवरात्र' आदिशक्ति आदिकारणरूपा भगवती के नव रूपों की पूजा हेतु निश्चित नौ रात्रियों के समूह को कहते हैं। रात्रि का समय साधना की दृष्टि से विशेष उपयोगी माना जाता है क्योंकि, रात्रि में मनुष्य का मन सहज रूप से प्रवृत्ति से हटकर निवृत्ति -परायण हो जाता है; इसलिये शक्ति के आह्वान और अर्चन के लिये शुक्लपक्ष की रात्रियों का विधान है। भगवती दुर्गा आदि शक्ति हैं। वे परब्रह्म की 'कार्यकरणात्मिका' शक्ति हैं, उनके बिना 'शिव' 'शव' हैं। अर्थात् निष्क्रिय और निस्पन्द हैं। परब्रह्म की शक्ति होने के कारण वे परब्रह्म से अभिन्न हैं। अर्थात् स्वयं ब्रह्मस्वरूपा हैं। परब्रह्म स्वयं निर्गुण और कूटस्थ है, भगवती आदिशक्ति से संयुक्त होकर ही वह 'सगुण' ईश्वर बनता है। इस दृष्टि से समस्त चराचर सृष्टि परम कारणरूपा इस महाशक्ति से ही उत्पन्न होती है और उन्हीं में विलीन होती है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश उन्हीं की शक्ति से अपने सृष्टि, पालन और संहाररूप कार्यों का सम्पादन करते हैं। ग्यारह रुद्रों के रूप में यही शक्ति विचरण करती है, यही विश्वेदेवों, अश्विनीकुमारों, इन्द्र और अग्नि को धारण करती है। यह जगत् की अधिष्ठात्री और पूज्यों में अग्रगण्य है, इसकी ही विभिन्न देवताओं के रूप में उपासना होती है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के वाक्सूक्त (१०/८/१२५) के मंत्रों में उनकी महिमा इस प्रकार वर्णित है –

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि अहं आदित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ।।
अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्या वेशयन्तीम्॥

वाक्सूत्र की ऋषिका वागम्भृणी आगे कहती हैं – मैं ही हिंसक असुरों का वध करने के लिये रुद्र के धनुष को प्रत्यंचायुक्त करती हूँ, मैं ही अपने भक्तों की प्रार्थना पर उनकी रक्षा के लिये उनके शत्रुओं से युद्ध करती हूँ; मैं ही इस सम्पूर्ण द्युलोक और पृथ्वी लोक में व्याप्त हूँ। सम्पूर्ण विश्व के कण-कण में जो गति और स्फूर्ति है, वह इस महाशक्ति का ही नर्तन है –

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्त वा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आविवेश ।।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

में संकट आयेगा, हम उसे नहीं जानते हैं। मैं अपनी आँखों से देखा हूँ। एक ब्राह्मण के घर में अंतिम संस्कार करने गया हूँ। वहाँ जाकर एक हृदयविदारक दृश्य देखा। एक बीस साल की लड़की आंगन में लेटी है, मानो स्वर्णमूर्ति हो! पिता चिल्लाकर रो रहे हैं, बगल में माँ बेहोश होकर पड़ी है। मैं अपने घर में देखा हूँ, बड़े भैया का देहान्त हो गया, माँ अन्धी हो गयी, कितनी रो रही थी !!

❖ (क्रमशः) ❖

वेदों की यह धारणा पुराणों में बड़ी सजधज के साथ विकसित हुई है। यह शक्तितत्त्व दिव्य सौन्दर्य और अद्भुत पराक्रम की गाथाओं से मण्डित होकर, सत्य के शुभ और अशुभ, भीषण और रमणीय रूपों से समन्वित होकर भक्तों और श्रद्धालुओं के हृदय में अद्भुत रस की सृष्टि करता है। चराचरव्यापिनी यह शक्ति प्राणिमात्र में चेतना बनकर निवास करती है, सब कुछ उसी से प्राणवान है – **या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते, नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।**

भगवती का स्वरूप है भी बड़ा मनोहर ! दिव्य सौन्दर्य की स्वामिनी देवी दुर्गा सिंह पर आरूढ़ हैं, सिंह उनके पराक्रम का प्रतीक है। प्रभुत्व की मर्यादा स्थापित करने के लिये उनकी भुजाओं में विविध शस्त्र और आयुध हैं। मस्तक की शोभा बढ़ाता तृतीय नेत्र ज्ञानाग्नि का प्रतीक है। कमल की पांखुरी जैसे नेत्रों से वे भक्तों पर करुणा की वर्षा करती हैं। पुराणकाल तक आते-आते इस आदिशक्ति की प्रतिष्ठा मातृशक्ति के रूप में हो चुकी थी। यह शक्ति ही वह महाप्रकृति है, जिससे यह चराचर सृष्टि उत्पन्न हुई है – इस सत्य ने लोकमानस में उनकी छवि वात्सल्यमयी जननी के रूप में आँक दी और लोग उनकी भावना और अर्चना स्नेहमयी 'माँ' के रूप में करने लगे – **या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।**

इस महाशक्ति के असंख्य रूप हैं, जो लोकमंगल के विभिन्न कार्यों के सम्पादन के लिये उन्होंने विभिन्न अवसरों पर धारण किये हैं। किन्तु 'नवरात्र' की नौ रात्रियों में उनके जिन नौ रूपों की विशेष रूप से उपासना होती है वे हैं – शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धिदात्री।

नवरात्र में जिस स्तोत्रग्रन्थ के पाठ का विशेष महत्त्व है, वह है 'दुर्गा-सप्तशती'। इसमें सात सौ श्लोकों में भगवती के पराक्रमों का वर्णन है। सारे संस्कृत साहित्य में इससे अधिक लोकप्रिय कोई दूसरा स्तोत्रग्रन्थ नहीं है। भगवती की वाममार्गी और दक्षिणमार्गी – दोनों ही प्रकार की पूजा-पद्धतियों में सप्तशती के मंत्रों का प्रयोग प्रचलित है। दुर्गा-सप्तशती का काव्य-सौन्दर्य अनुपम है, अत्यन्त प्रांजल और प्रवाहमयी शैली में लिखा गया यह ग्रन्थ वीररस के परिपाक का उत्कृष्ट उदाहरण है। श्लोकों का माधुर्य और ओज अपनी ध्वनिमात्र से ही मन को आकृष्ट कर लेता है। इसके अनेक अध्याय और अंश स्वतंत्र स्तुतियों का रूप ग्रहण कर चुके हैं और लोगों की दैनन्दिन अर्चना का अंश हैं।

दुर्गा-सप्तशती में भगवती के विभिन्न पराक्रम और लीलाएँ रोचक आख्यानों के रूप में वर्णित हैं। शैली कहीं वर्णनात्मक है और कहीं संवादात्मक। दार्शनिक तथ्यों को पुराणों की कथा-शैली में प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ आदिशक्ति भगवती दुर्गा को परब्रह्म की स्वरूपभूत कार्यकरणात्मिका शक्ति स्वीकार किया गया है। विभिन्न देवता उस एक परम सत्ता की ही विविध अभिव्यक्तियाँ होने से उससे भिन्न नहीं हैं, फलत: उनकी शक्तियाँ भी आदिशक्ति से भिन्न नहीं हैं। भिन्न-भिन्न अवसरों पर वही पराशक्ति विश्व को अनाचारी और अत्याचारी प्रभावों से मुक्त करने हेतु अलग-अलग नाम और रूप धारण करती है। इस सत्य का बहुत सुन्दर प्रकाशन दुर्गा-सप्तशती के द्वितीय अध्याय में हुआ है, जहाँ देवताओं की प्रार्थना पर महिषासुर के वध के लिये यह आदिशक्ति मूर्त नारी रूप धारण करती है। देवताओं की दीन दशा देखकर और महिषासुर के अत्याचारों का वर्णन सुनकर विष्णु, शिव, ब्रह्मा और इन्द्रादि देवता क्रुद्ध हो उठे और उनके मुख से दिव्य तेजोराशि प्रकट हुई; यह तेजोराशि एकत्रित होकर एक नारीमूर्ति बन गयी, जिसकी कान्ति से तीनों लोक जगमगा उठे। किस प्रकार विभिन्न देवताओं के तेज से उस नारी के विभिन्न अंश निर्मित हुए, किस प्रकार देवताओं ने उन्हें अपनी-अपनी शक्तियाँ प्रदान कीं और किस प्रकार सभी देवों ने उन्हें दिव्य आभूषण और आयुध प्रदान किये – इसका अत्यन्त मनोहारी वर्णन इस अध्याय में किया गया है।

इसी प्रकार सभी देवताओं की शक्तियाँ इस आदिशक्ति का ही अंश हैं – इस सत्य का भी वर्णन रूपकात्मक शैली में दुर्गा-सप्तशती में प्राप्त होता है। जब भगवती चण्ड नामक राक्षस का वध कर देती हैं, तब मुण्ड नाम के उसके भ्राता के साथ भयंकर युद्ध के समय भगवती चण्डिका की सहायता के लिये विभिन्न देवताओं की शक्तियाँ भी, जिनके नाम-रूप-गुण भी उन देवताओं के ही समान हैं, युद्ध स्थल में प्रकट होकर युद्ध करने लगती हैं। क्रमश: मुण्ड, रक्तबीज और निशुम्भ जैसे पराक्रमी दैत्यों का भी वध हो जाने पर शुम्भ नामक दैत्य क्रोधाविष्ट होकर उनसे कहता है, "दुर्गे, तू अन्य देवियों के पराक्रम का आश्रय लेकर युद्ध करती है और स्वयं को श्रेष्ठ युद्ध करनेवाली समझकर अपने बल का अभिमान करती है !" तब भगवती उसे उत्तर देती हैं, "अरे दुष्ट, मैं अकेली ही हूँ। इस संसार में मेरे अतिरिक्त दूसरी भला कौन है? देख, ये मेरी ही विभूतियाँ हैं, अत: मुझमें ही प्रवेश कर रही हैं" –

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः ।।

इस प्रकार सप्तशती के दशम अध्याय में शुम्भ और देवी के वार्तालाप के माध्यम से इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है कि इस महाशक्ति के असंख्य रूप हैं; किन्तु इस रूपभेद के कारण उनमें नानात्व की कल्पना नहीं कर लेनी चाहिये। शक्ति तो एक और अद्वितीय ही है। **(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)**

स्वामी प्रेमानन्द : उन्हें जैसा देखा

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(रामकृष्ण मठ-मिशन के ब्रह्मलीन अध्यक्ष स्वामी वीरेश्वरानन्दजी ने मालदा-स्थित रामकृष्ण मठ में भक्तों के समक्ष २८-११-१९७९ को अपने ये संस्मरण सुनाये थे, जो बाद में 'उद्‌बोधन' पत्रिका और अन्तत: 'अमृतेर सन्धाने' नामक बँगला पुस्तक में प्रकाशित हुआ था। उसी का स्वामी विदेहात्मानन्दजी कृत हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

आज एक विशेष दिन है। आज भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी-शिष्य स्वामी प्रेमानन्द महाराज का जन्मदिन है। मैं उनके सम्बन्ध में दो-चार बातें कहूँगा। ... आप में से बहुतों ने स्वामी प्रेमानन्द या बाबूराम महाराज के बारे में 'वचनामृत, लीलाप्रसंग' आदि ग्रन्थों में पढ़ा होगा। मैंने जैसा उन्हें देखा था, उसी विषय में कुछ कहूँगा।

१९१६ ई. में जब मैं घर से बेलूड़ मठ आया, उस समय वे वहीं थे। उन्हें देखकर ऐसा लगा था, मानों वे मठ के Guardian Angel (संरक्षक देवदूत) हों। वे मठ के सभी कार्यों में सहयोग देते। प्रात:काल जप-ध्यान के बाद एक बार वे बगीचे में जाकर देखते कि वहाँ क्या-क्या ठाकुर को भोग में देने के उपयुक्त है और वह सब तोड़कर ले आते। फिर जब रसोई के लिए सब्जियाँ काटी जातीं, तो वे भी सबके साथ मिलकर सब्जियाँ काटते। तदुपरान्त स्नान करके पूजा घर में जाते। पूजा के बाद भोग देते। अपराह्न में ठीक चार बजे ठाकुर को उठाते, संध्या के समय भोग देते और फिर आरती करने जाते।

सारे दिन और प्राय: सभी समय ठाकुर की ही बातें होतीं। दोपहर और रात को भोजन के बाद तथा संध्या के पूर्व भी वे पश्चिम की ओर के बेंच पर बैठते या कभी स्वामीजी के मन्दिर के पास बिल्ववृक्ष के नीचे बैठकर ठाकुर के बारे में बताते और हम सब खड़े-खड़े सुना करते। दिन भर वे इतनी बातें करते कि रात में उन्हें नींद ही न आती। वे और महापुरुष महाराज एक ही कमरे में साथ-साथ रहा करते थे। मठ-भवन के दुमंजले पर पश्चिम की ओर के कमरे में, पूर्व की ओर के दो दरवाजों के बीच की दीवार के पास महापुरुष महाराज और बाबूराम महाराज रहते। महापुरुष महाराज, बाबूराम महाराज से कहते, "तुम्हें नींद भी आये तो कैसे? दिन भर तो बोलते रहते हो, वायु चढ़ जाती है, इसीलिए नींद नहीं आती। थोड़ा कम बोला करो।" परन्तु बाबूराम महाराज ऐसा नहीं कर पाते।

वे दिन भर भक्तों की देख-रेख में – विशेष रूप से उन्हें प्रसाद खिलाने में व्यस्त रहते।

एक दिन दोपहर को उन्होंने गंगा के किनारे आकर देखा कि नाव में बैठकर कई भक्त आये हुए हैं और घाट पर उतर रहे हैं। उन्होंने उनका स्वागत किया और कहा, "पहले स्नान आदि कर लो, फिर प्रसाद पाना।" यह कहकर वे रसोईघर में गये और चूल्हा जलाकर खाना पकाने लगे। यह देखकर

पिछले पृष्ठ का शेषांश

सप्तशती में भगवती दुर्गा के तीन चरित्र वर्णित हैं। परम -प्रकृतिरूपा यह शक्ति ही विश्व का मूल कारण हैं और स्वरूपत: त्रिगुणात्मिका है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के सत्त्वगुणात्मक रूप को महा-सरस्वती, रजोगुणात्मक रूप को महालक्ष्मी और तमोगुणात्मक रूप को महाकाली की संज्ञा दी गई है। इन तीनों में से महाकाली के आख्यान को प्रथम चरित्र, महालक्ष्मी के आख्यान को मध्यम चरित्र और महा-सरस्वती के आख्यान को उत्तम चरित्र कहा जाता है। पुराणों में सामान्यत: ब्रह्मा सरस्वती से, विष्णु लक्ष्मी से और शिव अथवा रुद्र महाकाली या दुर्गा से सम्बद्ध कहे गये हैं, किन्तु सप्तशती में ब्रह्मा महाकाली के चरित्र के, विष्णु महालक्ष्मी के चरित्र के और रुद्र महा-सरस्वती के चरित्र के ऋषि अर्थात् 'मंत्रद्रष्टा' कहे गये हैं।

दुर्गा-सप्तशती में वर्णित भगवती की पुण्यगाथाएँ श्रद्धालुओं के हृदय में आस्था का अंकुरण करती हैं। देवी के व्यक्तित्व के अनेक पक्ष हैं, जो विभिन्न भावों का आलम्बन बनते हैं। उनके व्यक्तित्व में करुणा और क्रोध, सौन्दर्य और भीषणता, दया और शौर्य का अद्भुत समन्वय है। उनका एक ही कृपा-कटाक्ष व्यक्ति को भोग और मोक्ष देने में समर्थ है। नवरात्र का पर्व उनके आह्वान का पर्व है; वे तो चेतना और शक्ति के रूप में सदा सबमें वर्तमान हैं। किन्तु इस आत्मशक्ति को जगाने की, उद्‌बुद्ध करने की आवश्यकता होती है।

नवरात्र के नौ दिनों में उनके विभिन्न रूपों का ध्यान-पूजन कर और उनकी पराक्रमगाथाओं का श्रवण कर भक्त जहाँ एक ओर अपनी सुरक्षा और योगक्षेम के प्रति आश्वस्त होता है, वहीं दूसरी ओर हृदय में उनकी कृपा का अनुभव कर जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने की प्रेरणा भी पाता है।

❑❑❑

वहाँ उपस्थित हम सबने उनसे जाकर रसोई का काम ले लिया और भक्तों को भोजन कराया। ऐसा प्राय: ही हुआ करता। एक दिन लगभग दो बजे दो जन आये। पास आते ही बाबूराम महाराज ने उन लोगों से पूछा, "तुम लोगों का भोजन हुआ है, या नहीं?" उनके "नहीं" कहते ही वे बोले, "अच्छा, तो चलो प्रसाद पा लो।"

उन्हें साथ लेकर जब वे रसोईघर में गये, तो देखा कि सबका खाना हो चुका है और प्राय: कुछ भी नहीं बचा है। बर्तन में बहुत थोड़ा-सा भात, दाल और साग बचा था। उसी को लेकर उन्होंने उन दोनों को भोजन के लिए बैठाया और कहा, "लो, यह थोड़ा-सा ही प्रसाद पा लो।" वे वही खाकर अत्यन्त तृप्त हुए थे। इसके कई वर्षों बाद वे लोग फिर बेलूड़ मठ आये और आते ही बाबूराम महाराज की खोज की। पर तब तक बाबूराम महाराज का देहान्त हो चुका था। वे बोले, "कई वर्ष पूर्व एक दिन हम लोग बहुत देरी से आये थे; उस समय उन्होंने हमें थोड़ा-सा शाक और भात-दाल दिया था। वह खाने में जो तृप्ति मिली थी, वैसी जीवन में और कभी नहीं मिली।" उस थोड़ी-सी खाद्य-सामग्री के साथ वास्तव में बाबूराम महाराज का स्नेह लिपटा हुआ था, इसीलिए उन्हें तृप्ति मिली थी। पता नहीं वे लोग यह बात ठीक-ठीक समझ भी पाये थे या नहीं। बाबूराम महाराज के जीवन में इस तरह की बहुत सी घटनाएँ देखने में आती हैं।

वे खूब सीधा-सादा जीवन बिताया करते थे। कपड़े-लत्तों का उपयोग नहीं करते थे। जाड़े के दिनों में वे एक फतुआ* पहनते और उनके शरीर पर हमेशा एक चादर रहा करती। एक बार एक भक्त ने उनके लिए दो-चार फतुए बनवा दिये थे। उन्होंने वे सब रख लिये। उसी रात स्वप्न में उन्होंने देखा कि ठाकुर आकर उन्हें एक कुर्ता दिखाते हुए कह रहे हैं, "तूने मेरे लिए तो यह (दीमक का खाया हुआ) कुर्ता रखा है और अपने लिए अच्छे-अच्छे कुर्ते रख लिये!" अगले दिन सुबह उठते ही बाबूराम महाराज ने मन्दिर में जाकर ठाकुर के कपड़ों को देखा। उन्होंने पाया कि एक कुर्ते को दीमकों ने काटकर जाली जैसा कर दिया था।

एक बार वे पूर्वी बंगाल (अब बांग्लादेश) की यात्रा के लिए तैयार होकर ठाकुर को प्रणाम करने ऊपर गये। उन्हें ले जाने के लिए कुछ भक्तगण आये हुए थे। सब कुछ ठीक-ठीक हो चुका था। यहाँ तक कि कलकत्ते तक पहुँचाने के लिए नाव भी घाट पर बँधी हुई थी। मन्दिर से नीचे उतरकर वे बोले, "नहीं, जाना नहीं होगा।" जो व्यक्ति उस समय मन्दिर में थे, उन्होंने देखा था कि बाबूराम महाराज ठाकुर के साथ बातें कर रहे हैं और उन्होंने अन्त में कहा था, "तो फिर मैं न जाऊँ?" वे सिर्फ बाबूराम महाराज की ही बातें सुन सके थे, ठाकुर क्या बोले – यह उन्हें नहीं सुनाई दिया था। बाबूराम महाराज जब नीचे आकर बोले, "नहीं, जाना नहीं होगा," तब अनुमान के द्वारा समझा गया कि ठाकुर ने जाने से मना किया है। सब लोग विस्मित रह गये थे कि सारी तैयारी हो चुकी है और ये कह रहे हैं कि नहीं जाऊँगा! आखिरकार उस दिन जाना नहीं हुआ। बाद में समाचार मिला था कि जिस स्टीमर में उनके ग्वालन्द से ढाका जाने की बात थी, वह तूफान में पड़कर डूब गया। तब समझ में आया कि उनकी रक्षा करने के लिए ही ठाकुर ने उन्हें जाने से मना किया था।

वे प्रारम्भ से ही स्वामीजी के प्रति खूब अनुरागी थे, परन्तु स्वामीजी द्वारा शुरू किये गये सेवा-कार्यों में उनकी ज्यादा रुचि नहीं थी। १९१२-१३ ई. में जब वे काशी गये, तो वहाँ स्वामीजी की पुस्तकें पढ़कर वे खूब inspired (अनुप्राणित) हो गये। उसके बाद से वे बहुधा स्वामीजी के भावों पर चर्चा करते और मठ में लौटने के बाद स्वामीजी के सन्देश के प्रचार-प्रसार में लग गये। उन दिनों विश्वविद्यालय तथा कॉलेजों आदि के बहुत-से छात्र उनके सम्पर्क में आकर संन्यासी हो गये। बाबूराम महाराज उन्हें मठ के कर्मों में खूब उत्साहित किया करते। कोई प्राकृतिक आपदा होने पर – बाढ़, अकाल, महामारी आदि का प्रकोप होने पर वे उन्हें उत्साह देकर राहत कार्य में भेजते और कहते, "जाओ, जाकर रिलीफ करो।"

सन् १९१४ ई. में जब वे यहाँ (मालदा) आये थे, तब उन्होंने इसी मकान में निवास किया था। उन दिनों इस भवन के पीछे एक मैदान था। अब वहाँ मकान आदि बन जाने के कारण मुझे वह मैदान नहीं दिखा। उसी मैदान में उत्सव हुआ था, जिसमें उन्होंने व्याख्यान दिया था। उस भाषण में उन्होंने कहा था कि शिवज्ञान से जीवसेवा करना ही युगधर्म है। हम लोग मन्दिर में विग्रह की इसलिए पूजा करते हैं, ताकि हमारी आध्यात्मिक उन्नति हो। मानव के भीतर भी भगवान प्रकाशित हैं, अत: हम यदि मनुष्य के भीतर उनकी पूजा करें, तो हमारी और भी ज्यादा आध्यात्मिक उन्नति होगी। उन्होंने इसी दृष्टिकोण से शिवज्ञान से जीवसेवा को युगधर्म कहा था। वास्तव में स्वामीजी भी यही चाहते थे। इस युग की यही आवश्यकता है, क्योंकि भारत की जो सर्वांगीण अवनति हुई है, अभी तक हमारे देशवासी उसे दूर करके ऊपर नहीं उठ सके हैं। ध्यानपूर्वक देखने पर हम समझ जाएँगे कि हम कहाँ खड़े हैं।

स्वामीजी जब अमेरिका से लौटे, तो दक्षिणी भारत के कुछ लोगों ने उनसे कहा था, "स्वामीजी, आप राजनीति में

* एक तरह की छोटी कमीज

भाग लेकर देश को स्वाधीन कराइए, उसके बाद बाकी सब कुछ होगा।'' इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया था, ''देश को स्वाधीन कराना तो आसान बात है। परन्तु क्या तुम लोग उस स्वाधीनता की रक्षा कर सकोगे? तुम लोगों में मनुष्य कहाँ हैं? पहले मनुष्य का निर्माण करो। मनुष्य तैयार होने पर तुम्हें स्वाधीनता भी मिलेगी और तुम उस स्वाधीनता को बनाये भी रख सकोगे। परन्तु मनुष्य-निर्माण हुए बिना कुछ भी न होगा।'' वास्तव में स्वामीजी ने ८० वर्ष पूर्व देश की जो हालत बताई थी, हमें आज भी वही हालत दीख रही है – देश में 'मनुष्य' का अभाव है। यही कारण है कि आज सर्वत्र अव्यवस्था और अराजकता व्याप्त है। आज सचमुच ही हम एक संकटपूर्ण परिस्थिति से होकर गुजर रहे हैं। इसके बाद हम पर क्या बीतेगी – कहना कठिन है; क्योंकि हमारे देश में 'मनुष्य' ही नहीं हैं। हमारे स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में मनुष्य-निर्माण की कोई व्यवस्था नहीं है। आज का विद्यार्थी-वर्ग भी राजनीति में भाग ले रहा है। उनकी शिक्षा का स्तर भी गिरता जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में 'मनुष्य' कैसे तैयार हों? धर्मभाव के द्वारा मनुष्य-निर्माण करना होगा। तभी तो स्वामीजी ने कहा था, "First deluge the land with spiritual ideas." (पहले देश में धर्मभाव की बाढ़ ला दो।) और भी कहा था, ''आत्मा की ही बातें सुनाओ, भगवान की ही बातें सुनाओ।'' इसके द्वारा जो प्रेरणा आएगी, उसके फलस्वरूप हमारे देशवासी धर्मयुक्त जीवन बिताएँगे, तभी ठीक-ठीक 'मनुष्य' का निर्माण होगा और तभी भारतवर्ष की यथार्थ उन्नति होगी। सिर्फ संसद में कानून पास करके मनुष्य का निर्माण नहीं किया जा सकता। मनुष्य-निर्माण धर्म के द्वारा ही होता है। बाबूराम महाराज स्वामीजी की यही सब बातें सुनाया करते थे। वे कहते – शिवज्ञान से जीवसेवा ही इस युग का महान् व्रत है।

यदि हमें देश को पुन: महान् बनाना है, तो इसे सभी ओर से करना होगा। हम भारतवासियों में अधिकांश गरीब हैं किसी तरह एक जून का खाना पाते हैं। उनके अच्छे खाने-पीने की व्यवस्था करनी होगी। उनमें अधिकांश अशिक्षित हैं। शिक्षादान करना होगा। आज हम जगत् में चारों ओर विक्षोभ तथा अशान्ति का साम्राज्य देखते हैं। इसका कारण है धर्म का अभाव, अत: यदि हम धर्मप्रचार न करें, धर्ममूलक शिक्षा न दें, तो देश और भी अध:पतन की ओर अग्रसर होगा। विशेषकर साधुओं की ओर लक्ष्य कर बाबूराम महाराज कहा करते थे, ''तुम लोग स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट इस कार्य में जुट जाओ। इसके बाद तुम्हारी देखादेखी भक्त लोग भी इस कार्य में लग जाएँगे।'' परन्तु स्वामीजी जानते थे कि यूरोप अमेरिका के समान सिर्फ समाज-सेवा का उद्देश्य लेकर यह कार्य करने पर 'भगवत्प्राप्ति' रूप मुख्य उद्देश्य विस्मृत हो सकता है। इसीलिए स्वामीजी ने कहा कि यदि हम 'शिवज्ञान से जीवसेवा' का भाव लेकर कार्यक्षेत्र में उतर सकें, तो भारतवर्ष को पुन: उन्नत कर सकेंगे।

वैष्णव-धर्म की चर्चा करते हुए एक दिन श्रीरामकृष्ण देव ने कहा था, ''उस मत में सर्वदा तीन चीजों का पालन करने का प्रयास करने को कहा गया है – नाम में रुचि, जीवों पर दया और वैष्णव-जन की सेवा।'' इसकी व्याख्या करते समय 'सब जीवों पर दया' कहते ही वे समाधिस्थ हो गये। कुछ क्षणों बाद अर्धबाह्य अवस्था में कहने लगे ''जीवों पर दया? जीवों पर दया? धत् तेरे की! कीटानुकीट होकर तू जीवों पर दया करेगा? दया करनेवाला तू कौन है? नहीं, नहीं – जीवों पर दया नहीं, शिवज्ञान से जीवों की सेवा।'' ठाकुर की इन बातों को सुनकर उस दिन स्वामीजी ने कहा था, ''ठाकुर की बात में आज कितना अद्भुत प्रकाश मिला। ... भगवान ने यदि कभी अवसर दिया तो आज जो सुना, उस सत्य का सारे विश्व में सर्वत्र प्रचार करूँगा – विद्वान-मूर्ख, ब्राह्मण-चाण्डाल – सभी को सुनाकर मोहित करूँगा।'' ठाकुर की उस वाणी में जो गहन अर्थ निहित था, उसे अन्य कोई भी, यहाँ तक कि स्वामीजी के गुरुभ्रातागण भी नहीं समझ सके थे। परन्तु स्वामीजी समझ सके थे। बाद में स्वामीजी ने रामकृष्ण मिशन को 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' का आदर्श वाक्य दिया। सेवा-कार्य के पीछे क्या भाव हो? – शिवज्ञान से जीवों की सेवा करना। इससे लाभ यह होगा कि हम अपने 'भगवत्प्राप्ति' रूप जीवन के उद्देश्य को नहीं भूलेंगे। कार्य के भीतर भी हम भगवान को पाएँगे। जिन भगवान का हम मन्दिर में बैठकर, गुहा-पर्वत में बैठकर ध्यान करते हैं, उन्हीं भगवान को विराट में विराजमान देखकर उनकी सेवा करेंगे। ठाकुर कहते थे, ''जो राम दशरथ का बेटा, वही राम घट-घट में लेटा।'' राम घट-घट में अर्थात् प्रत्येक जीव में हैं। इस दृष्टिकोण के साथ यदि हम सेवा करें, तो फिर हम भगवान को नहीं भूलेंगे, हमारा उद्देश्य विस्मृत नहीं होगा और हमारा कर्म – उपासना में परिणत हो जाएगा। पहले जो लोग भगवत्प्राप्ति करना चाहते थे, उन्हें कर्म त्याग देना पड़ता था। संन्यासीगण कोई कर्म नहीं करते थे। भगवत्प्राप्ति के लिए वे केवल ध्यान-भजन और शास्त्र-चर्चा लेकर ही रहते थे। बहुत हुआ तो लोगों को शास्त्रों के उपदेश सुनाते थे। परन्तु वे किसी अन्य Social Work (सामाजिक कार्य) में नहीं फँसते थे। उनका तर्क यह था कि भगवत्प्राप्ति के लिए मन को स्थिर करना होगा, ऐसी चेष्टा करनी होगी जिससे उसमें किसी प्रकार की विजातीय चित्तवृत्ति न रहे। जिस प्रकार एक पात्र से दूसरे में

तेल ढालते समय वह अविच्छिन्न रूप से गिरता है, भगवान का स्मरण भी वैसे ही अविच्छिन्न रूप से हो; अथवा जैसे दीपशिखा वायुरहित स्थान पर बिना हिले-डुले जलती रहती है, ठीक वैसे ही मन भी ईश्वर में पूर्णतया स्थिर रहे। तभी ईश्वर के दर्शन होते हैं। ऐसी दशा में कर्म करना नहीं चलता, क्योंकि कर्म हमें बहिर्मुखी बना देता है और मन बहिर्मुखी होने पर ध्यान टूट जाता है। इसलिए उनका कहना था कि कर्म उचित नहीं, उसका त्याग करो। परन्तु स्वामीजी ने आकर कहा, ''नहीं, नहीं, यह कैसी बात ! कर्मत्याग क्यों करोगे? कर्म करो, परन्तु इस दृष्टि से करो कि भगवान प्रत्येक व्यक्ति के भीतर हैं; तुम उन्हीं को देखकर सेवा करना। ऐसा करने पर तुम भगवान को नहीं भूलोगे। जिन भगवान का चिन्तन तुम ध्यान में करते हो, उन्हीं भगवान को सेवा में भी पाओगे।'' शिवज्ञान से जीवसेवा करते हुए तुम सारे समय भगवान का ही चिन्तन करोगे और इससे तुम्हारा कर्म ही उपासना बन जाएगा। इससे तुम्हारा आदर्श ठीक रहेगा, तुम्हारा ध्यान भी ठीक होगा और जगत् का कल्याण भी होगा। इस दृष्टिकोण से सेवा करने पर किसी प्रकार की असुविधा नहीं होगी और धर्मजीवन में भी कोई व्यवधान नहीं आएगा। यह मानो दुधारी छुरी है – दोनों तरफ काटती है। एक ओर हमारा कर्म-बन्धन काटती है, तो दूसरी ओर लोक-कल्याण भी साधित करती है। इस भाव से कार्य करने पर व्यक्तिगत उन्नति के साथ ही समाज और राष्ट्र की भी उन्नति होगी। अशिक्षित लोगों को हम शिक्षादान कर सकते हैं; जिन्हें खाने को नहीं जुटता, उनके लिए हम थोड़ा बेहतर खाने की व्यवस्था कर सकते हैं; बीमारों के लिए चिकित्सा आदि का प्रबन्ध कर सकते हैं और जो लोग धर्म के विषय में अज्ञ हैं, उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान का दान कर सकते हैं।

हमारा मुख्य उद्देश्य है भगवत्प्राप्ति। यह कैसे सधे? – यह होगा मूर्तिपूजा की जगह, मनुष्य के भीतर जो भगवान विराजमान हैं, उन्हीं की पूजा के द्वारा। मन्दिर में फूल-चन्दन तथा नाना प्रकार के भोग-राग देकर देवता की पूजा होती है। मूर्ति के भीतर प्राण-प्रतिष्ठा करके उनकी सेवा-आराधना की जाती है। परन्तु यहाँ तो, यानी मनुष्य के भीतर प्राण-प्रतिष्ठा साक्षात् भगवान् के द्वारा ही की हुई है। तुम्हें सिर्फ दृष्टिकोण बदलकर सेवा करनी होगी। ... हमारा उद्देश्य समाज-सेवा नहीं है, वरन् यह भगवान को पाने की एक नवीन साधना-पद्धति है, जो स्वामीजी हमारे लिए निर्दिष्ट कर गये हैं। यह नवीन साधना सिर्फ भारतवर्ष के लिए ही नहीं है, सारे जगत को इसकी आवश्यकता है। तभी तो स्वामीजी ने कहा था, ''मैं यह एक नया आदर्श दिये जा रहा हूँ।''

१९१४ ई. में जब बाबूराम महाराज यहाँ आये थे, तो उन्होंने इसी मैदान में यही बात कही थी। उन्होंने कहा था, **''स्वामीजी जिस शिवज्ञान से जीवसेवा की बात कह गये हैं, यही युगधर्म है।''** उस समय श्रोताओं में से एक बोल उठा था, ''महाशय, हम आपसे प्रेम-भक्ति की बातें सुनना चाहते हैं। हम यहाँ सेवा-धर्म सुनने नहीं आये। हमें प्रेम-भक्ति की बातें सुनाइए।'' बाबूराम महाराज ने पहले तो कोई उत्तर नहीं दिया, परन्तु जब कई बार यही बात दुहरायी गयी, तब वे बोले, ''यहाँ प्रेम-भक्ति सुनने का अधिकारी भला कौन है? कोई भी तो नहीं है !'' इस पर वही व्यक्ति पुनः कह उठा, ''क्या इतने श्रोताओं में एक भी नहीं है?'' तब बाबूराम महाराज बोले, ''तो फिर सुनो। एक दिन एक फेरीवाला रास्ते में 'प्रेम लो' की गुहार लगाते हुए चला जा रहा था। प्रेम बिक रहा है – सुनकर आसपास के घरों के लोग जल्दी से बाहर निकल आये और बोले 'हाँ ! मैं लूँगा। बोलो क्या कीमत है?' फेरीवाले ने कहा, 'इसकी कीमत है सिर ! है कोई अपना सिर देनेवाला?' यह सुनते ही सब धीरे-धीरे खिसक गये।'' यह कहानी बताने के बाद बाबूराम महाराज बोले, ''सिर देने का अर्थ अपने अहंकार-अभिमान का त्याग कर देना है। इससे तुम्हारा देहाभिमान चला जायगा। 'मैं' और 'मेरा' का बोध लुप्त हो जायगा। तभी तुम प्रेम-भक्ति की बातें सुनने के अधिकारी होगे; अन्यथा राधाकृष्ण-लीला, गोपीलीला सुनने का तुम्हें अधिकार नहीं है।''

उस दिन उन्होंने ये ही दो बातें कही थीं – एक तो युगधर्म, जो कि स्वामीजी का सन्देश है; और दूसरी यह प्रेम की बात। वास्तव में हममें से कोई भी उस निष्काम प्रेम-भक्ति की धारणा नहीं कर सकता। राधा की जो प्रेम-भक्ति है, उसकी हम कल्पना तक नहीं कर सकते। इसीलिए बाबूराम महाराज ने कहा था कि जब तक हममें देहात्म-बोध है, तब तक हम राधा-प्रेम की बातें सुनने और समझने के अयोग्य हैं। बाबूराम महाराज ने उस दिन जो दो बातें कही थीं, उन्हीं के साथ मैं आज का अपना व्याख्यान समाप्त करता हूँ। उनसे मेरी यही प्रार्थना है कि वे हमें इस सेवा-धर्म को अपने जीवन में रूपायित कर सकने का आशीर्वाद दें।

❑❑❑

स्वामी विवेकानन्द की कथाएँ और दृष्टान्त

(स्वामीजी अपने व्याख्यानों में दृष्टान्त आदि के रूप में बहुत-सी कथा-कहानियों तथा दृष्टान्तों का वर्णन किया है, जो १० खण्डों में प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' तथा अन्य ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं। उन्हीं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

१०. चीन का वृद्ध कैदी

हमारे जीवन में जो दु:ख-कष्ट आते हैं, वे हमारे अपने ही चुने हुए होते हैं। हमारा स्वभाव ही ऐसा है। चीन का एक व्यक्ति साठ साल तक जेल में रहा। फिर नये सम्राट् के राज्याभिषेक की खुशी में जब उसे जेल से रिहा कर दिया गया, तो बाहर आने के बाद वह चिल्ला उठा, ''अब मैं जी नहीं सकता? मैं तो कहीं भी नहीं जा सकता। मुझे अपनी उसी भयानक अँधेरी कोठरी में चूहों के बीच जाने दो। मैं यह प्रकाश सह नहीं सकता।'' उसने उन लोगों से प्रार्थना की, ''या तो मुझे मार डालो या दुबारा जेल में ही भेज दो।'' उसका अनुरोध स्वीकार करके उसे पुन: कारागार में भेज दिया गया। संसार के सभी मनुष्यों की हालत ठीक ऐसी ही है। हम निरन्तर हर तरह के दु:ख-कष्टों को पकड़ने के लिए जी-जान से दौड़ते रहते हैं और उनसे छूटने के लिये जरा भी राजी नहीं हैं। हम प्रतिदिन सुखों के पीछे दौड़ते हैं और वे मिलने के पहले ही गायब हो जाते हैं। ये सुख मानो जल की भाँति हमारी अँगुलियाँ के पोरों के बीच से बह जाते हैं। परन्तु इसके बावजूद हम ऐसे अन्धे मूर्ख हैं कि अपनी इस पागलपन भरी खोज को बन्द नहीं करते। (३/१०२)

११. माया महाठगिनी हम जानी

प्राचीन काल में भारतवर्ष में एक महान सम्राट राज्य करते थे। एक बार उनसे चार प्रश्न किये गये थे। पहला प्रश्न था, ''संसार में सबसे आश्चर्य की बात कौन-सी है?''

उत्तर मिला, ''जीने की आशा!''

यह आशा ही दुनिया में सबसे अद्भुत चीज है। हम दिन-रात अपने चारों ओर लोगों को मरते हुए देखते हैं, परन्तु इसके बावजूद सोचते हैं कि स्वयं नहीं मरेंगे। हम कभी नहीं सोचते कि हम भी मरने वाले हैं या हमें भी दु:ख-कष्ट उठाने पड़ेंगे। ये आशाएँ चाहे जितनी भी असम्भाव्य क्यों न हों, परिस्थितियाँ कितनी ही विपरीत क्यों न हों, कल्पनाएँ कितनी भी अयौक्तिक क्यों न हों, तो भी हर व्यक्ति यही सोचता रहता है कि उसे सफलता अवश्य मिलेगी। वस्तुत: इस संसार में कोई कभी सुखी हुआ ही नहीं। यदि कोई व्यक्ति धनाढ्य है और खाने-पीने को खूब है, तो उसकी पाचनशक्ति ही खराब है और वह ज्यादा कुछ खा नहीं सकता। दूसरी ओर, यदि किसी की पाचन-शक्ति अच्छी है और उसे भेड़िये के समान भूख लगती है, तो उसके पास खाने को कुछ भी नहीं है। यदि कोई धन-धान्य से सम्पन्न है, तो उसे सन्तानों का अभाव है; और यदि कोई निर्धन तथा अभावग्रस्त है, तो उसके यहाँ बाल-बच्चों की एक पूरी फौज ही है और उसे नहीं सूझता कि इनका पालन-पोषण कैसे हो।

ऐसा क्यों है? इसीलिए कि सुख और दु:ख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जिसे सुख चाहिए, उसे दु:ख भी लेना होगा। हमारी यह धारणा मूर्खतापूर्ण है कि हमें बिना कोई दु:ख उठाये, केवल सुख-ही-सुख मिल जाएगा; और यह बात हममें ऐसी भिद गयी है कि हमारा अपनी इन्द्रियों पर कोई अधिकार ही नहीं रह गया है। (३/१०३-०४)

१२. तुम नित्य शुद्ध आत्मा हो

एक हिन्दू रानी थी। उनकी बड़ी तीव्र इच्छा थी कि उनके सभी पुत्र इसी जन्म में मुक्ति प्राप्त कर लें। इसीलिये उन्होंने पुत्रों के लालन-पालन का सारा भार अपने ही ऊपर ले लिया था। वे उन्हें सुलाते समय पालना झुलाते हुए गातीं – ''तत्त्वमसि, तत्त्वमसि।'' (तू ब्रह्म है, तू ब्रह्म है।) उनके तीन पुत्र संन्यासी हो गये, पर चौथे को राजा बनाने के उद्देश्य से, अन्यत्र ले जाकर पालन-पोषण किया गया। विदा करते समय माँ उसे कागज का एक टुकड़ा देते हुए बोली, ''इसमें जो लिखा है, उसे बड़े होकर पढ़ना।'' उस कागज पर लिखा था – ''ब्रह्म ही सत्य है, बाकी सब मिथ्या। आत्मा न कभी मरती है, न मारती है। एकाकी रहो या फिर सत्संग करो।'' बड़े होने पर जब राजकुमार ने उसे पढ़ा, तो वह भी उसी समय संसार त्यागकर संन्यासी हो गया। (७/१०५-०६)

१३. धर्म की प्राप्ति का उपाय

एक शिष्य अपने गुरु के पास गया और बोला, ''महाराज, मैं धर्म की प्राप्ति करना चाहता हूँ।'' गुरु ने युवक की ओर देखा और चुप रहे। वे सिर्फ मुस्कुरा दिये। युवक प्रतिदिन आता और धर्म की प्राप्ति कराने का आग्रह करता। परन्तु वृद्ध गुरु उस युवा शिष्य से कहीं अधिक अनुभवी थे।

एक दिन खूब गर्मी पड़ रही थी। उन्होंने शिष्य से स्नान करने हेतु अपने साथ नदी तक चलने के लिए कहा। जब दोनों स्नान करने हेतु नदी में उतरे, तो गुरु ने उससे पानी में डुबकी लगाने को कहा। युवक ने ज्योंही डुबकी लगायी, गुरु ने बलपूर्वक उसे पानी के अन्दर डुबोए रखा। उसके थोड़ी देर छटपटाने के बाद उन्होंने शिष्य को छोड़ दिया। जब वह पानी के बाहर आया, तो वृद्ध गुरु ने पूछा, ''वत्स, जरा

बताओ तो, जब तुम पानी के अन्दर थे, तब तुम सबसे अधिक क्या चाहते थे?'' युवक ने उत्तर दिया, ''केवल एक साँस !'' तब गुरु बोले, ''क्या तुम ईश्वर को भी इतनी ही व्याकुलता के साथ चाहते हो? यदि ऐसा है, तो फिर उसे क्षण मात्र में ही पा जाओगे।'' जब तक तुम्हें ऐसी प्यास नहीं लगती, तब तक तुम अपनी बुद्धि को लेकर या अपनी पुस्तकों या मूर्तियों को लेकर चाहे जितनी भी कोशिश करो, तुम्हें धर्म की प्राप्ति नहीं होगी। जब तक तुममें ऐसी प्यास उत्पन्न नहीं होती, तुम नास्तिक की अपेक्षा किसी भी मायने में श्रेष्ठ नहीं हो ! अन्तर केवल इतना है कि नास्तिक ईमानदार है और तुम वह भी नहीं हो।

एक महात्मा प्राय: कहा करते थे, ''मान लो, इस कमरे में कोई चोर घुसा हो। मान लो, उसे किसी तरह पता चल जाय कि पासवाले कमरे में बहुत-सा सोना रखा हुआ है और दोनों कमरों के बीच की दीवार भी बड़ी कमजोर है। ऐसी अवस्था में उस चोर की क्या दशा होगी? उसे न तो नींद आएगी और न खाने या अन्य कोई काम करने में रुचि रह जाएगी। उसका सारा मन इसी बात में लगा रहेगा कि सोने को किस प्रकार प्राप्त किया जाए। क्या तुम ऐसा समझते हो कि आज लोग जैसा आचरण कर रहे हैं, यदि उन्हें निश्चित विश्वास हो कि परमात्मा सुख, आनन्द तथा ऐश्वर्य की खान है और वह हमारे पास ही है, तो भी लोग ऐसा ही आचरण करते रहेंगे? उस परमात्मा की प्राप्ति के लिये जरा भी प्रयास नहीं करेंगे?'' मनुष्य ज्योंही विश्वास करने लगता है कि परमात्मा विद्यमान है, त्योंही वह उसे पाने के लिए पागल हो जाता है। बाकी लोग भले ही अपनी राह जाएँ, लेकिन जिस मनुष्य को यह विश्वास हो जाता है कि वह अपने वर्तमान जीवन से कहीं ऊँचा जीवन व्यतीत कर सकता है और ज्योंही उसे निश्चित रूप से यह अनुभव होने लगता है कि इन्द्रियाँ ही सर्वस्व नहीं हैं, यह सीमाबद्ध जड़ शरीर – उस शाश्वत, चिरन्तन और अमर आत्मानन्द के सामने कुछ नहीं है, तो वह उन्मत्त हो जाता है और उस परमानन्द को स्वयं ढूँढ़ निकालता है। यही वह पागलपन है, वह प्यास है, वह उन्माद है, जिसे धर्मभाव की 'जागृति' कहते हैं; और जब उसका आविर्भाव हो जाता है, तो मनुष्य धार्मिक बनना आरम्भ कर देता है। (३/२५०-५१)

१४. स्वाधीनता ही उन्नति का लक्षण है

भगवान बुद्ध ने परिपक्व आयु में देहत्याग किया था। मुझे याद है, मेरे एक अमेरिकी वैज्ञानिक मित्र को बुद्ध का चरित्र पढ़ना बड़ा पसन्द था; पर उसे बुद्ध की मृत्यु अच्छी नहीं लगती थी, क्योंकि उन्हें सूली पर नहीं चढ़ाया गया था। कैसी भ्रान्तिपूर्ण धारणा है यह ! उसके लिये महान व्यक्ति होने की कसौटी थी – उसकी हत्या ! भारत में कभी इस तरह की धारणा प्रचलित न थी। इन महान बुद्ध ने भारतीय देवताओं तथा जगत पर शासन करनेवाले ईश्वर तक की निन्दा करते हुए सारे भारत में भ्रमण किया, इसके बावजूद वे वार्धक्य तक जीवित रहे। वे अस्सी वर्ष तक जीवित रहे और उन्होंने आधे देश को अपने धर्म का अनुयायी बना डाला।

चार्वाकों ने ऐसी भयंकर बातों का प्रचार किया, जैसी कि आज उन्नीसवीं शताब्दी में भी लोग इस तरह के भौतिकवाद का खुल्लम-खुल्ला प्रचार करने का साहस नहीं करते। इन चार्वाकों को स्वतंत्रतापूर्वक मन्दिरों और नगरों में प्रचार करने दिया गया कि धर्म मिथ्या है, वह केवल पुरोहितों की स्वार्थपूर्ति का साधन है, वेद केवल पाखण्डी-धूर्त तथा राक्षसों की रचना है – न कोई ईश्वर है, न अनन्त आत्मा। यदि आत्मा है, तो मृत्यु के बाद वह स्त्री-पुत्र आदि के प्रेम से आकृष्ट होकर लौट क्यों नहीं आती? इन लोगों की यह धारणा थी कि यदि आत्मा होती, तो मृत्यु के बाद भी उसमें प्रेम आदि की भावनाएँ रहतीं और वह अच्छा खाना और अच्छा पहनना चाहती। ऐसा होने पर भी किसी ने इन चार्वाकों को नहीं सताया।

इस प्रकार भारत में सदा से ही धार्मिक स्वाधीनता का यह उत्कृष्ट भाव रहा है; और तुम्हें याद रखना चाहिये कि स्वाधीनता ही विकास की पहली शर्त है। जिसे तुम स्वाधीन नहीं करोगे, वह कभी विकसित नहीं हो सकता। यदि कोई यह सोचे कि वह दूसरों को उन्नत कर सकता है, उनकी उन्नति में सहायता दे सकता है और उनका पथ-प्रदर्शन कर सकता है, परन्तु अपने लिए सर्वदा शिक्षक की स्वाधीनता बनाये रख सकता है, तो तो यह एक वाहियात विचार है, एक भयानक झूठ है, जिसने संसार के लाखों व्यक्तियों के विकास में अड़ंगे डाले हैं। लोगों को स्वाधीनता के प्रकाश में आने दो। यही विकास की एकमात्र शर्त है। **(२/६९)**

१५. अविद्या माया की लीला

प्रकृति उस फ्रांसीसी के जैसी है, जिसने अपने एक अंग्रेज मित्र को यह कहकर निमंत्रित किया था कि मेरे तहखाने में पुरानी शराब रखी हुई है। उसने पुरानी शराब की एक बोतल मँगायी। शराब इतनी बढ़िया थी कि बोतल के भीतर सोने जैसी दमक रही थी। नौकर ने गिलास में शराब उड़ेली, तो अंग्रेज चुपचाप पूरा पी गया। वस्तुत: नौकर ले आया था रेड़ी के तेल की बोतल ! हम लोग सर्वदा रेड़ी का तेल पी रहे हैं, इससे बच नहीं सकते। (४/१४४)

❖ **(क्रमश:)** ❖

विभिन्न रूपों में श्रीमाँ

आशुतोष मित्र

१९४४ ई. के नवम्बर में प्रकाशित लेखक के 'श्रीमाँ' नामक पुस्तक के प्रथम तीन अध्याय हम २००६ के अंकों में प्रकाशित कर चुके हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' के खण्ड २ से इस अंश का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(१) दो प्रसिद्ध अभिनेत्रियाँ तीनकौड़ी और तारासुन्दरी देवी कभी-कभी माँ को प्रणाम करने आती। ये लोग कभी ठाकुरघर में प्रवेश नहीं करतीं और न कभी माँ को स्पर्श करते हुए प्रणाम करती थीं। ये ठाकुरघर के बाहर से ही गले में आँचल डालकर ठाकुरजी और माँ को प्रणाम करती थीं। माँ भी उन्हें प्रसाद ग्रहण करने को कहतीं। भोजन के बाद माँ अपने हाथ से उन्हें पान देती। वे लोग उसे ऊपर से ले लेतीं। यह सब देखकर एक दिन उनके चले जाने के बाद माँ ने कहा, "इन्हीं की भक्ति ठीक-ठीक है। भगवान को जितना-सा भी पुकारो, उतना पूरे मन से पुकारो ! अहा-हा !"

(२) एक निकटस्थ युवक के चरित्र में दोष आ जाने पर, ठाकुर के एक पुराने गृही भक्त ने माँ से कहलवाया कि वे उसे अपने पास न आने दें। युवक माँ का शिष्य था। भक्त के अनुरोध पर माँ ने उत्तर दिया, "मेरे पास नहीं आएगा, तो किसके पास जाएगा? क्या मैं केवल अच्छों की ही माँ हूँ, दोषियों की नहीं?"

(३) किसी दुश्चरित्र नारी को माँ के पास बारम्बार आते देखकर अन्य स्त्री-पुरुष भक्त नाराज होते, यहाँ तक कि एक दिन ठाकुर के एक पुराने भक्त की पत्नी* माँ से इस विषय में शिकायत भी कर बैठी, लेकिन माँ का वही पहले का ही उत्तर था – "मैं क्या केवल अच्छों की ही माँ हूँ – बुरों की नहीं? वह महिला माँ की नहीं, 'गोपाल की माँ' की शिष्या थी।

(४) माँ हास-परिहास भी अच्छा कर लेती थीं। एक बार वे दो व्यक्तियों की विशेषताओं के बारे में हाथ-मुँह हिलाते हुए इतनी सटीक भाव-भंगिमा के साथ वर्णन कर रही थीं कि लग रहा था मानो सचमुच अभिनय कर रही हों। पर ऐसा करते-करते सहसा गम्भीर होकर बोलीं, "मेरे बच्चों में से कोई भी ऐसा न हो। मुण्डों-मुण्डियों की टोली बनाने से कहीं अच्छा होगा कि वे विवाह कर लें। मैं अनुमति देती हूँ।" बाद में, इन दोनों में से एक माँ को प्रणाम करने आये। जिस प्रकार कुछ अन्तरंग भक्तों को छोड़कर, माँ जैसे सारा शरीर चादर से ढँककर खड़े होकर सबका प्रणाम ग्रहण करतीं, इनके आने पर भी ऐसा ही करतीं; और हम लोगों ने कई बार देखा है कि उस व्यक्ति के प्रणाम करके चले जाने पर माँ अपने चादर तथा कपड़ों पर गंगाजल छिड़कने के बाद अपने दोनों पाँव गंगाजल से धोतीं।

(५) एक कम आयु की विधवा, माँ के पास आती रहती थी। बीच-बीच में दो-चार दिन ठहर भी जाती। उसके निवास के समय माँ सर्वदा बड़ी चिन्तित रहती थीं। वह माँ की शिष्या थी। माँ उसे बहुत-से उपदेश देतीं। कहतीं, "देखना बेटी, मेरा नाम मत डुबाना। शिष्य का पाप गुरु को लगता है। खूब सावधानी से रहना। पुरुष के रूप में, चाहे कोई भी क्यों न हो – किसी पर भी विश्वास मत करना। पुरुष की ओर जरा भी मत देखना। अपना ध्यान-जप लेकर दिन बिताना।"

(६) राखाल महाराज या बाबूराम महाराज के प्रणाम करने पर माँ चादर के भीतर से दाहिना हाथ उठाकर आशीर्वाद देती। स्वामीजी, नाग महाशय, गिरीश बाबू या मास्टर महाशय के प्रणाम करने पर माँ चादर के भीतर से प्रति-नमस्कार करतीं। माँ नाग महाशय से बातें भी करतीं।

(७) माँ अपने शिष्यों में से किसी-किसी के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देतीं, किसी की ठुड्डी को छूकर अपना हाथ चूम लेतीं। कुछ गिने-चुने अन्तरंग शिष्यों के सीने तथा सिर पर हाथ रखकर जप कर देतीं; यदा-कदा पीठ पर हाथ फेरकर 'कुण्डलिनी जागो' कहकर आशीर्वाद देतीं।

(८) हमारी जानकारी में, माँ ने अपने तीन शिष्यों को दीक्षा देने का 'अधिकार' दिया था। पहले कालीकृष्ण महाराज (स्वामी विरजानन्द), दूसरे सुशील महाराज (स्वामी प्रकाशानन्द) और तीसरे व्यक्ति के नाम बताने की मुझे मनाही है। माँ ने पहले दो व्यक्तियों को एक ही तरह के बीज के साथ और तीसरे व्यक्ति को इसके अतिरिक्त एक अन्य ऐसे बीज के साथ मंत्र सिखाये थे, जिसे उन्हें ठाकुर ने नहीं सिखाया था।

(९) सुना है, ठाकुर सिक्कों का स्पर्श नहीं कर पाते थे – उनके अनजाने बिस्तरे के नीचे रख देने पर भी वे बिस्तर का स्पर्श नहीं कर पाते थे। धातु का स्पर्श हो जाने पर उनके

* बलराम बसु की पत्नी – कृष्णभाविनी देवी।

हाथ में सिंगी मछली के काँटे चुभने की तरह पीड़ा होती और हाथ ऐंठ जाते। मैंने माँ को इससे बिल्कुल भिन्न देखा। रुपये या गहने हाथ में लेते ही वे उसे मस्तक से लगातीं। किसी को देते या किसी से लेते समय भी इसी प्रकार करतीं। ठाकुर तथा उनमें ऐसे भेद का कारण पूछने पर माँ ने मुझे बताया था, "ठाकुर और मैं! बेटा, मैं तो स्त्री की जाति हूँ – ठाकुर ने मुझे तो सोने के गहने भी पहनवाये थे!"

(१०) लेखक अधिक चाय पीता था। माँ ने उसे सिखाया, "ठाकुर कहते थे, 'शरीर को शान्त और शीतल रखना चाहिए।' इतनी गरम चीज क्या अधिक पीनी चाहिये? मिश्री का शर्बत, नारियल का पानी – यह सब भी पीना चाहिये।"

(११) मठ में चण्डी-पाठ हो रहा था। लेकिन पाठ ठीक नहीं हो रहा है, ऐसा कहकर माँ ने उसे बन्द करा दिया। बाद में वे हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) के पाठ को सुनकर अपने पहले आदेश को बदलकर बोलीं, "हरि पढ़ सकता है।"

(१२) सुना है, ठाकुर कहते थे, "बंगला में सभी अक्षर एक-एक हैं, बहुत हुआ तो कोई दो है। लेकिन 'स' तीन हैं – श, ष, स – अर्थात् सहन करो, सहन करो, सहन करो!" इस सन्दर्भ में मैंने माँ को दूसरी उपमा देते सुना है। वे कहतीं, "पृथ्वी के समान सहनशीलता होनी चाहिये।" विस्तार से व्याख्या करतीं, "पृथ्वी पर कितना अत्याचार होता है, उपद्रव होता है, पर पृथ्वी सब कुछ चुपचाप सहती जाती है। इसी तरह मनुष्य में भी सहनशीलता होनी चाहिये।"

(१३) माँ अपने एक सेवक को वस्त्र आदि देना चाहती थीं, तो वे उसे न लेकर कहते, "माँ, मेरे पास है – आपको देने की जरूरत नहीं है।" इसी प्रकार कुछ दिन बीतने के बाद एक दिन माँ ने उन सेवक से कहा, "तुम्हें बताना पड़ेगा कि क्यों नहीं लेते? अमुक को जितने भी कपड़े देती हूँ, वह कभी 'ना' नहीं कहता और तुम्हें एक भी देती हूँ, तो नहीं लेते – क्यों?" सेवक ने उत्तर दिया, "भक्त लोग तो आपको अपने उपयोग के लिए देते हैं – उसे भला मैं कैसे ले सकता हूँ? फिर, यहाँ (कलकत्ते में) तो आपको मिलते हैं, पर गाँव में तो मिलते नहीं; वहाँ भी तो ले जाकर आप जिस-तिस को बाँट देती हैं। मैंने देखा है कि अन्त में आपके पास कोई भी कपड़ा-लत्ता नहीं बचता। मुझे क्षमा कीजिये। मैं नहीं ले सकता।" माँ ने पूछा, "तुम मुझे क्या समझते हो?" सेवक ने उत्तर दिया, "अपनी माँ!" माँ उत्तेजित होकर बोलीं, "बुद्धू बेटे! तुम्हें क्या जरा-सी भी बुद्धि नहीं है – बेटे को दिये बिना माँ क्या कभी खा-पहन सकती है? क्या पुत्र के लिये माँ का भण्डार खाली रहता है? आज कहे देती हूँ – जब जिस चीज की जरूरत होगी, मुझसे माँग लेना – इससे मुझे खुशी होगी।" इतना कहकर माँ ने अपने बक्से में से एक वस्त्र निकाला, उसे अपने शरीर में लपेटने के बाद वह प्रसादी वस्त्र सेवक को दिया और प्रसिद्ध बैरिस्टर एस.एन. बैनर्जी की माँ का दिया हुआ एक मूल्यवान वस्त्र भी अपने शरीर में लपेटकर प्रसादी बनाकर दे दिया। सेवक दोनों वस्त्रों को मस्तक से लगाकर चले आ रहे थे, तभी माँ ने उन्हें दुबारा बुलाकर यत्नपूर्वक रखा गया ठाकुर का पहना हुआ एक वस्त्र भी दिया। अपने भाव के प्रतिकूल कार्य होने पर अथवा माँ के अपार स्नेह पर मुग्ध होकर सेवक रोने लगे। माँ ने उसकी ठुड्डी का स्पर्श करने के बाद अपना हाथ चूमते हुए कहा, "माँ के उपर भी बेटे का जोर है बेटा, जिस चीज की भी जरूरत होगी, माँग लेना।" सेवक नीचे आये और इस आशंका से कि वे ठाकुर के पहने हुए वस्त्र की पवित्रता की रक्षा कर पायेंगे या नहीं – उसे शरत् महाराज के पास सुरक्षित रख दिया। अन्य दो वस्त्र स्वयं ग्रहण किया।

माँ के इतना कहने के बाद भी सेवक ने मुँह खोलकर माँ से कभी कुछ नहीं माँगा। हर वर्ष दुर्गापूजा के समय माँ स्वयं ही जो एक वस्त्र देतीं, वे उसी को ले लेते। बहुत दिनों बाद एक बार हम लोगों ने उन सेवक को देखा। इस बीच उन्हें अनेक झंझावातों और घातों-प्रतिघातों में पड़कर बड़े कष्टपूर्ण दिन देखने पड़े। हम लोग ने जब उन्हें देखा, उस समय वे अभावग्रस्त जीवन बिता रहे थे और तब तक माँ देहत्याग कर चुकी थीं। मित्रगण उनसे कहते, "जब माँ ने तुमसे इतना कहा है, तो उनसे माँगते क्यों नहीं?" उन्होंने उत्तर दिया, "पूरा विश्वास है कि माँगते ही मिलेगा, पर माँगूँगा नहीं। वे चुसनी देकर भुलाये रखना चाहती हैं – ऐसा नहीं होगा।"

(१४) निम्नलिखित संन्यासी तथा गृही भक्तों को माँ जिस-जिस नाम से पुकारा करती थीं, वे इस प्रकार हैं –

नाम	– माँ जिस नाम से पुकारती थीं
लाटू महाराज	– नाटू
योगीन महाराज	– बेटा योगीन
योगीन माँ	– बेटी योगीन
कृष्णलाल	– केष्टनाल
गणेन्द्र	– गनेश
डॉक्टर कांजिलाल	– कांजिनाल
ललित मोहन चट्टोपाध्याय	– नलित
गौरी-माँ	– गौरदासी

(१५) 'ठाकुर बड़े हैं या माँ?' – एक शिष्य के ऐसे ही एक प्रश्न के उत्तर में माँ ने कहा था, "छी, कही ऐसी बात कहते है?" फिर अगले ही क्षण उन्होंने पूछा, "तुम्हें क्या लगता है?" शिष्य बोला, "काली महादेव के ऊपर खड़ी हैं।" माँ ने मधुर हास्य के साथ कहा, "तुम यही भाव लेकर रहो।"

❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामी विवेकानन्द की हिमालय-यात्रा (४)

स्वामी विदेहात्मानन्द

नैनीताल छः दिन

अयोध्या से चलकर दोनों गुरुभाई नैनीताल की ओर चल पड़े। उन्हें बहुत-सा मार्ग पैदल ही चलना पड़ा था। अखण्डानन्द जी ने एक बार बताया था, "स्वामीजी और मैं – दोनों हिमालय की ओर जा रहे थे। एक जगह देखा – एक साधु कपड़े से सिर तक ढँककर ध्यान करने बैठा है और जोरों से खर्राटे भर रहा है। स्वामीजी चिल्ला उठे, 'बेटा बैठे-बैठे मजे-से सो रहा है, इसके कन्धे में हल बाँध, तो शायद इसका कुछ भला हो!' "[१] नैनीताल पहुँचकर वे लोग वहाँ श्री रमाप्रसन्न भट्टाचार्य के घर में ठहरे। ताल के शीतल जल में स्नान करने से अखण्डानन्द के बायीं ओर के अस्थि-पंजर में पीड़ा होने लगी। सम्भवत: इसी कारण उन लोगों ने वहाँ छह दिनों तक निवास किया। "वहीं उन्होंने संकल्प किया कि आगे का पूरा रास्ता पैदल ही तय करेंगे और धन का स्पर्श तक नहीं करेंगे।"[२]

अल्मोड़ा के पथ पर

दोनों ने अल्मोड़ा पहुँचकर गुरुभाइयों से मिलने और आगे बदरीनारायण की यात्रा करने की इच्छा के साथ नैनीताल से प्रस्थान किया। हिमालय मानो साक्षात् शिवजी की ही प्रतिमूर्ति है। इस पथ पर चलते हुए सहसा हिम-मण्डित शैल-श्रेणियों का दर्शन पाकर स्वामीजी का चित्त अपूर्व शान्ति का अनुभव करता हुआ अन्तर्मुखी हो गया।

इस यात्रा के दौरान स्वामीजी को कुछ अलौकिक अनुभूतियाँ हुईं, जिनके विषय में स्वामी गम्भीरानन्दजी ने लिखा है, "हमारी धारणा है कि नैनीताल से अल्मोड़ा तक अधिकतर रास्ते दोनों अलग-अलग चले थे, क्योंकि लगातार दो दिन स्वामीजी ने अपने सहयात्री (अखण्डानन्दजी) को कहा था, 'तू रास्ते से जा, मैं थोड़ा वन के भीतर से चलकर उस पार तुझसे मिलूँगा।' कौन जाने दूसरे समय भी ऐसा होता था या नहीं? सम्भवत: ऐसा ही होता, क्योंकि उन दिनों उनका निर्जनता की ओर ही विशेष झुकाव था और उनके जीवन की इन दिनों की जो घटनाएँ लिपिबद्ध हुई हैं अथवा उन्होंने स्वयं दूसरे प्रसंगों में जो कुछ कहा है, उससे अकेले भ्रमण की बात ही अधिक मेल खाती है। ध्यान देने की बात यह भी है कि इन सब घटनाओं में किसी किसी के चमत्कारपूर्ण या रोमांचकारी होने पर भी स्वामी अखण्डानन्द की 'स्मृतिकथा' में उनका आभास तक नहीं है या 'स्मृतिकथा' का विवरण सूत्र-रूप में या और भी संक्षेप में अंकित है। अस्तु, इसी तरह चलकर वे दोनों अल्मोड़ा पहुँचे; किन्तु इस कालावधि में स्वामीजी के जीवन में कई अनुभूतियाँ घटित हुई थीं।"[३]

इसी पथ पर चलते हुए स्वामीजी ने एक दिन अपने सहयात्री को सुनहरे अक्षरों में किसी मंत्र के दर्शन करने की बात बतायी। और उन्हें यह भी समझा दिया कि विभिन्न देवताओं के क्या-क्या मंत्र हैं और उनके अर्थ (इष्ट) क्या हैं।

अखण्डानन्दजी ने बताया था, "एक जगह स्वामीजी स्वयं वन के भीतर से होकर गये और मुझसे थोड़ा घूमकर जाने को कहा। थोड़ी दूर जाने के बाद स्वामीजी से भेंट हुई। देखा स्वामीजी अकेले हैं, लेकिन हँस रहे हैं, मानो किसी के साथ बातें कर रहे थे, आँखों तथा मुख पर एक तरह के आनन्द का भाव था। मैंने पूछा, "भाई, किसके साथ बातें कर रहे थे?" वे चुपचाप मुँह दबाकर हँसने लगे।"[४]

एक विशेष अनुभूति

एक अन्य दिन इसी प्रकार चलते-चलते स्वामीजी ने अखण्डानन्द को कहा, "तू रास्ते से होकर जा, मैं थोड़ा वन के भीतर से जाकर उस पार तुझसे मिलूँगा।" स्वामीजी के निर्देशानुसार कुछ दूर चलने के बाद अखण्डानन्द ने वन में प्रविष्ट होकर देखा कि वहाँ एक स्थान पर बहुत-से फूल खिले हुए हैं और चारों ओर सुगन्ध फैली है। वहीं श्रीरामकृष्ण और स्वामीजी परस्पर आलिंगनबद्ध हैं! निर्जन में यह दृश्य देखकर वे आनन्द से परिपूर्ण हो गये।[५]

इसी घटना को स्वामी अखण्डानन्दजी से सुनकर अमूल्यबन्धु मुखोपाध्याय ने अपनी स्मृतिकथा में लिपिबद्ध किया है – "उन दिनों मैं तथा स्वामीजी परिव्राजक अवस्था में पैदल भ्रमण कर रहे थे। उत्तर प्रदेश में एक दिन हम दोनों पैदल चले जा रहे थे। थोड़ी देर बाद एक छोटा-सा वन दिखाई दिया। वन के पास से होकर भी एक रास्ता था। स्वामीजी ने मुझसे कहा, 'गंगा, तू वन के बाहर के रास्ते से जा, मैं वन के भीतर से जाऊँगा। देखें, कौन पहले पहुँच सकता है।' स्वामीजी की बात शिरोधार्य करके मैं बाहर के रास्ते से चल पड़ा। स्वामीजी वन के भीतर से चले। मैं जब वन के दूसरे छोर पर पहुँचा, तब भी स्वामीजी वहाँ पहुँचे नहीं थे। मेरे मन

१. अखण्डानन्द के सान्निध्य में, स्वामी निरामयानन्द, पृ. ४१

२. विवेकानन्द : एक जीवनी, स्वामी निखिलानन्द, प्र.सं., पृ. ८९

३. युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, प्रथम सं., पृ. २४७

४. स्वामी अखण्डानन्दके जेरूप देखियाछि (बँगला), पृ. ६८

५. स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी अन्नदानन्द, नागपुर, पृ. ६२

में भय तथा चिन्ता हुई कि स्वामीजी को अकेले आने देना उचित नहीं हुआ। अत: मैं स्वामीजी की खोज में वन के पथ से उल्टी दिशा में आगे बढ़ा। थोड़ी दूर जाने के बाद ही दूर स्पष्ट देखने को मिला – स्वामीजी ठाकुर का कन्धा पकड़े हुए धीरे-धीरे चले आ रहे हैं। यह दृश्य देखकर मैंने चलना बन्द किया और पीछे लौट आया। थोड़ी देर बाद स्वामीजी भी आये। वे बोले, 'गंगा, अरे, तू तो मेरे पहले ही आ पहुँचा है!' मैंने कहा, 'भाई, मैं तो किसी का कन्धा पकड़ कर धीरे-धीरे आ नहीं रहा था!' मेरे इतना कहते ही स्वामीजी हँसकर बोले, 'लगता है तूने देख लिया है!' "[६]

एक कथाकार का वर्णन

प्रश्न उठता है कि अखण्डानन्दजी ने वन में प्रवेश करके क्या देखा? स्वामीजी के जीवन में घटी अलौकिक घटनाओं को उनकी जीवनियों में कम ही स्थान दिया गया है। उनके सहयात्री अखण्डानन्दजी ने अनौपचारिक वार्तालापों के दौरान यदा-कदा इस घटना का यत्किंचित् उल्लेख किया है, जिससे मात्र एक रेखाचित्र ही उभर पाता है। महान् कथाकार श्री नरेन्द्र कोहली ने अपनी कल्पना की तूलिका से इस रेखाचित्र पर कुछ रंग भरते हुए जो चित्रण किया है, वह इस प्रकार है – "अखण्डानन्द वन में घुस गये और सावधान रहते हुए सघन वन में प्रवेश कर गये। सहसा उन्हें लगा कि आसपास ही कहीं बहुत सुगन्धित पुष्पों का झुण्ड है। ऐसी सुगन्ध तो उन्होंने इस वन में पहले कभी नहीं सूंघी थी। कहीं महाभारत के भीम जैसी घटना उनके साथ भी तो नहीं घटने जा रही है। उन्होंने भी सौगन्धिक सहस्त्रदल कमलों का कोई सरोवर ही तो नहीं खोज लिया? यह उनके लिये कोई अनजाना क्षेत्र था और लगता था कि यहाँ बहुत सारे सुगन्धित पुष्प थे। वे उसी दिशा में चल पड़े।

"अकस्मात् ही उनके पग रुक गये! उनके सामने वह सुगन्धित पुष्पोद्यान था। छोटे-छोटे पौधों और घने वृक्षों के मध्य दो मानव-आकृतियाँ एक-दूसरे से गले मिल रही थीं। अखण्डानन्द ने अपना सिर झटका – वे कोई स्वप्न देख रहे हैं क्या? स्वयं ठाकुर स्वामीजी के गले मिल रहे थे।

"अखण्डानन्द स्तब्ध खड़े रह गये। ऐसे रोमांच का अनुभव उन्होंने इससे पहले कभी नहीं किया था। वे क्या देख रहे हैं? सहसा ठाकुर विलुप्त हो गये। वहाँ स्वामीजी अकेले ही खड़े थे। अखण्डानन्द उलटे पगों लौट आये। वे प्रकट नहीं करना चाहते थे कि उन्होंने गुरु-शिष्य का यह मिलन देखा है। यदि स्वामीजी स्वयं बताना चाहें, तो बात और है, पर ठाकुर को अखण्डानन्द ने उनकी इच्छा के विरुद्ध तो नहीं देखा होगा। यदि वे उनके सम्मुख प्रकट नहीं होना चाहते, तो अदृश्य ही रहते। इसका अर्थ तो यही है कि वे चाहते हैं कि अखण्डानन्द भी देख लें कि ठाकुर उनके साथ हैं और अपने प्रिय नरेन से तो वे दूर रहते ही नहीं। पर अखण्डानन्द यह सब सच कैसे मान बैठे? कहीं ऐसा तो नहीं कि उनकी ज्ञानेन्द्रियों ने उन्हें भरमाया हो! यह किसी प्रकार का मतिभ्रम भी हो सकता है। पर तत्काल उन्होंने अपने इस विचार को झटक दिया। मतिभ्रम होता, तो उसके कुछ और लक्षण भी होते। वे पूर्णत: स्वस्थ और चैतन्य हैं। उन्हें इस प्रकार के मतिभ्रम होने का क्या अर्थ?

"ठाकुर नरेन का इस क्षेत्र में स्वागत कर रहे थे अथवा उन्हें विदा कर रहे थे? क्या वे आरम्भ से ही वन में नरेन के साथ चल रहे थे? अखण्डानन्द को लगा कि स्वामीजी के व्यवहार की अनेक बातें उनके मन में स्पष्ट होने लगी हैं। भागलपुर में उन्हें किसी प्रकार की त्वरा नहीं थी। किन्तु वैद्यनाथ धाम से विदा होते ही स्वामीजी को जल्दी मच गयी थी। वे कहीं भी ठहरना नहीं चाहते थे। उन्हें जैसे पंख लग गये थे और वे उड़कर अल्मोड़ा पहुँचना चाहते थे। क्या उन्हें ऐसा कोई संकेत मिल चुका था कि ठाकुर उनसे यहाँ भेंट करेंगे? या जहाँ से अखण्डानन्द को छोड़कर वे वन में प्रविष्ट हुए थे, वहाँ उन्हें ठाकुर से मिलना था और इसीलिये वे एकान्त चाहते थे? कुछ भी सम्भव था। किन्तु यह तो स्वामीजी का अपना रहस्य था। जाने और कितने रहस्य होंगे, जिन्हें वे अपने वक्ष में दबाए बैठे हैं।

"स्वामीजी उनके पास आ गये, 'गैंजेज, मुझे खोजने वन में घुस आये? तुम्हें यहाँ पहुँचे बहुत समय हो गया क्या?'

" 'हाँ, कुछ घण्टे तो हो ही गये हैं', अखण्डानन्द बोले, 'आपको वन में कोई कष्ट तो नहीं हुआ?'

" 'गुरु की कृपा बनी रहे, तो कोई कष्ट हमें छू भी कैसे सकता है!' वे बोले, 'और संन्यासी के लिये यह भी कोई कष्ट होता है? सारा मार्ग स्वादिष्ट फलों और सुन्दर फूलों से अटा पड़ा है। जाने लोग पगडंडियों से क्यों जाते हैं?'

"अखण्डानन्द कहना चाहते थे कि यदि सब लोग वन में से होकर आते, तो वहाँ न कोई फल बचता और न कोई फूल; किन्तु वे कुछ नहीं बोले। स्वामीजी ने ठाकुर की चर्चा की भी थी और नहीं भी की थी। यह तो कहा था कि गुरु की कृपा बनी रहे, तो कष्ट कैसे हो सकता है, किन्तु यह नहीं कहा कि ठाकुर उनके साथ ही थे। वे शायद इसे गुप्त ही रखना चाहते थे, जबकि ठाकुर उन्हें निमिष-भर को अपना रूप दिखा ही चुके थे।"[७]

काकड़ी घाट की अनुभूति

इस प्रकार सूनसान पहाड़ी मार्ग पर चलते हुए तीसरे दिन दोनों संन्यासी कोसी और सुइया नदी के संगम पर स्थित

६. स्वामी अखण्डानन्दके जेरूप देखियाछि (बँगला), पृ. १५८-५९

७. तोड़ो, कारा तोड़ो, नरेन्द्र कोहली, भाग ३, प्र.सं. पृ. ३६-३७

काकड़ी घाट आ पहुँचे, जहाँ से अल्मोड़ा की दूरी लगभग २२ कि.मी. है। वहाँ एक पानी-चक्की, कुछ प्राचीन मन्दिर तथा एक विशाल पीपल का वृक्ष था। स्वामीजी ने अपने सहयात्री से कहा, "यह स्थान कितना मनोहर है! ध्यान के लिये यह कितना अद्भुत स्थान है!" वे लोग अपनी थकान मिटाने को उसी के चबूतरे पर बैठ गये। थोड़ी देर बाद निकट ही प्रवाहित नदी के जल में स्नान करके वे लोग ध्यान में बैठे। चारों ओर गम्भीर महामौन का भाव फैला था।

कुछ घण्टों बाद स्वामीजी का ध्यान भंग हुआ और वे अखण्डानन्द से बोले, "देख गंगाधर, अल्मोड़ा के इस वृक्ष के नीचे एक महान शुभ मुहूर्त बीत गया। आज मेरे जीवन की एक बड़ी समस्या का समाधान हो गया। मैं समझ गया कि किस प्रकार विराट् ब्रह्माण्ड तथा अणु जगत् एक ही सूत्र में ग्रथित हैं।" उन्होंने अखण्डानन्द के पास रखी एक डायरी में बँगला भाषा में अपनी उस अनुभूति को लिख डाला।

"सृष्टि के आदि में शब्द मात्र था, आदि। विराट् जगत् (ब्रह्माण्ड) (macrocosom) और अणु-जगत् (पिण्ड) (microcosom) एक ही नियम पर संघटित हैं। जिस प्रकार जीवात्मा (व्यष्टि) एक चेतन देह द्वारा आवृत्त है, वैसे ही विश्वात्मा (समष्टि) भी सचेतन प्रकृति अथवा दृश्य जगत् द्वारा आवृत्त है। काली ने शिव का आलिंगन कर रखा है। यह कल्पना मात्र नहीं है। एक (आत्मा) का दूसरे (प्रकृति) से आवृत्त होना वैसे ही है, जैसे शब्द और उसका अर्थ। वे एक और अभेद हैं। केवल मानसिक विश्लेषण के द्वारा ही उन्हें अलग किया जा सकता है। शब्दों के बिना विचार करना असम्भव है। इसीलिये 'आदि में केवल शब्द था' इत्यादि। विश्वात्मा का यह युगल पक्ष अनादि काल से विद्यमान है। अत: हम जो कुछ देखते या अनुभव करते हैं, वह नित्य साकार और नित्य निराकार का सम्मिश्रण है।"[८]

युगनायक विवेकानन्द ग्रन्थ में स्वामी गम्भीरानन्दजी बताते हैं कि अखण्डानन्दजी की जिस डायरी में स्वामीजी ने उस अनुभूति को लिपिबद्ध किया था, वह खो चुकी है, इसीलिये उन्हें अंग्रेजी जीवनी से अनुवाद करना पड़ा। उस समय अल्मोड़ा में उपस्थित सान्याल (स्वामी कृपानन्द) ने बताया है कि उन्होंने उसकी एक प्रतिलिपि बना ली थी, जिसका हिन्दी अनुवाद हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने उसे १९३६ ई. में बँगला की किसी पत्रिका के विशेषांक में प्रकाशित कराया और उसके बाद अपनी 'श्रीरामकृष्ण-लीलामृत' ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप में स्थान दिया। उसका एक प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –

८. विवेकानन्द : एक जीवनी, स्वामी निखिलानन्द, प्र.सं., पृ. ९०; तथा युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, पृ. २४८

परिशिष्ट (१)
स्वामी विवेकानन्द कृत
धर्म-मीमांसा और रामकृष्ण दर्शन

"श्रीरामकृष्ण के लीला-संवरण के कुछ समय बाद नरेन्द्रनाथ (स्वामीजी) ने हिमालय में तपस्या करने की इच्छा से गंगाधर को साथ लेकर (नैनीताल से) अल्मोड़ा की ओर जाते समय एक धर्मशाला में बैठकर गंगाधर की डायरी में अपने अनुभूति की व्याख्या लिखी। अल्मोड़े में जब उन्होंने शरच्चन्द्र (स्वामी सारदानन्द) तथा मुझे दिखाया, तो मैंने उसे लिख लिया; और ताबीज के समान यत्नपूर्वक सुरक्षित रख लिया। 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' लेखन के समय मैंने उसे शरच्चन्द्र को दिया और उनकी भी इच्छा थी कि (ठाकुर का) दिव्यभाव लिखना पूरा हो जाने पर इसका भक्त-समाज में प्रचार करेंगे। (परन्तु) विधि की विधान से उसके पुन: मेरे पास आ जाने से मैं इसे पाठकों को सादर उपहार के रूप में अर्पित करता हूँ।

"इस कारण आचार्यपाद नरऋषि नरेन्द्रनाथ (विवेकानन्द), जो हमारे शिरोमणि हैं और जिनके कृपा-प्रसाद से अचिंत्य-चरित प्रभु की थोड़ी-बहुत महिमा की धारणा करने में हम समर्थ हुए हैं, वे अपनी 'धर्म-मीमांसा' तथा 'रामकृष्ण-दर्शन' का आरम्भ में उन्हीं महाशक्ति की ही उपासना कर रहे हैं।

"In the begining was the word, and the word was with God, and the word was God. सूक्ष्म ब्रह्माण्ड तथा बृहत् – एक ही प्रकार से गठित हुए हैं। जैसे क्षुद्र आत्मा चेतन-शरीर में आवृत्त है, वैसे ही विश्वात्मा चैतन्यमयी प्रकृति बाह्य-जगत् में आवृत्त है; शव के ऊपर शिवा – यह कल्पना नहीं है। जैसे मन के भाव और अक्षर या उक्ति में भेद नहीं किया जा सकता, वैसे ही एक अन्य का आवरण स्वरूप है। कल्पना के द्वारा मात्र विश्लेषण करके कहा जाता है। बिना शब्दों के कोई चिन्तन नहीं कर सकता। अतएव In the begining was the word, and the word was with God, and the word was God.

"विश्वात्मा की यह अभिव्यक्ति अनादि और अनन्त है। अतएव नित्य साकार और नित्य निराकार को ही हम मिश्रित रूप में जानते और देखते है।"

अथ धर्म-मीमांसा

(१) द्व्याणुक त्रसरेणु से लेकर महा आध्यात्मिक बल-सम्पन्न मनुष्य के साथ इस दृश्यमान जगत् में प्रति क्षण परिवर्तन हो रहा है। इस क्षण मैं जहाँ हूँ, अगले क्षण मैं वहाँ से अन्यत्र ले जाया जा रहा हूँ।

(२) यह निरन्तर परिवर्तन अन्तर्जगत् तथा बाह्य जगत् – दोनों में ही हो रहा है।

(३) इस नियम के अधीन – हर पत्ता, शिरा तथा पल्लव और उनका समष्टिरूप वृक्ष; प्रति शरीर, मन तथा आत्मा और इसी प्रकार अनेक मनुष्यों के समष्टिरूप समाज में सतत परिवर्तन हो रहा है।

(४) इस प्रकार के अनेक समाजों का समष्टिरूप यह मनुष्य-जगत् है।

(५) इन सभी परिवर्तनों के बीच हम कुछ (परिवर्तनों) को अच्छा और कुछ को बुरा मानते हैं। (पूर्वपक्ष हो सकता है कि भला-बुरा क्या है? और वह यथार्थ बोध है या नहीं?) प्रस्ताव, मनुष्य को उसके हित-अहित, भला-बुरा, उत्तम-अधम-ज्ञान-विशिष्ट जीव का सिद्धान्त बनाकर वह आबद्ध हो गया है।

(६) इन समस्त परिवर्तनों के बीच सृष्टिबोध, परलोक-बोध, तथा कर्मबोध-जनित जो सब मानसिक परिवर्तन समष्टि-आकार में विस्तार-रूप में कार्य में परिणत होकर, मनुष्य के जीवन तथा समाज में अन्य सभी प्रकार के अनुभूतियों तथा अनुमानों की अपेक्षा सर्वाधिक परिवर्तन लाने में समर्थ हुआ है, उसी का नाम धर्म है।

(७) पदार्थ द्वारा, वस्तुगत धर्म द्वारा, अदृष्ट (प्रारब्ध) द्वारा, दो व्यक्तियों के संघर्ष के द्वारा, सर्व-शक्तिमान एकमात्र आत्मा के द्वारा, और न जाने अन्य कितने ही प्रकार से इस जगत् की उत्पत्ति का अनुमान किया गया है। कितने ही स्थानों और कितनी ही अवस्थाओं में परलोक स्थापित हुए हैं। अवश्यम्भावी फल, ईश्वर के अनुग्रह से खण्डित होनेवाले फल, स्वाधीन, ईश्वराधीन, अदृष्ट के अधीन आदि अनेकों प्रकार के कर्मफलों का अनुमान किया गया है और इन समस्त विभिन्न अनुमानों के फलस्वरूप विभिन्न धर्म हुए हैं।

(८) समाज के भिन्न-भिन्न, ऊँच-नीच, अवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न धर्ममत दिखाई पड़ते हैं।

(९) प्रत्येक धर्म, अन्य धर्मों को उपधर्म तथा भ्रम-मात्र समझता है। पूर्वकाल में तलवार के बल पर और वर्तमान में तर्क-वितर्क के द्वारा इस भ्रम को सुधारा जाता है।

(१०) अतएव, हम देखते हैं कि समस्त सम्प्रदायों तथा विद्वानों का मत यही है कि मनुष्य-जाति जिस प्रकार निम्न अवस्था से उन्नत अवस्था में उठ रही है, उसी प्रकार भ्रम से सत्य की ओर उठ रही है – जो जिस मत में विश्वास करता है, वही उसके सत्य की सीमा है।

अथ रामकृष्ण-दर्शनं प्रवक्ष्यामि
नमो रामकृष्णाय

(१) जिस प्रकार बचपन, यौवन, प्रौढ़ता, वार्धक्य आदि अवस्थाओं का समूह ही एक जीवन कहलाता है, उसी प्रकार सभी मनुष्यों का समष्टि-रूप इस विराट् पुरुष, अर्थात् मनुष्य-जगत् का भी एक जीवन है। हो सकता है, यह सीमित हो अथवा अनन्त।

(२) प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन उक्त जीवन की एक-एक अवस्था-स्वरूप है।

(३) जैसे वृद्ध यदि कहे – मेरी बचपन आदि अवस्थाएँ असत्य हैं, तो वह मानो उन्मत्त का प्रलाप मात्र है; वैसे ही किसी विशेष धर्म में अवस्थागत मनुष्य-समाज की पूर्ववर्ती अवस्था को, अर्थात् धर्ममत को भ्रान्त कहना उन्मत्त का प्रलाप मात्र है।

(४) **कारणमेव कार्यमनुप्रविशति** – कारण ही कार्य-स्वरूप अनुप्रविष्ट होता है। हो सकता है कि पूर्ववर्ती कारण कुछ नवीन पदार्थ को भी ग्रहण करके कार्य में परिणत हो, तब भी कारण तो उसके भीतर रह गया।

(५) अतएव प्रत्येक पूर्व अवस्था बाद की अवस्था के भीतर विद्यमान है; प्रत्येक पूर्व-धर्ममत परवर्ती धर्ममत के भीतर विद्यमान है।

(६) अतएव यदि तुम समझते हो कि तुम पूर्व धर्ममत से उच्चतर विश्वास में आये हो, तो तुम पूर्व के धर्म-विश्वास से घृणा मत करना; बल्कि भक्तिपूर्वक उसे प्रणाम करो, (क्योंकि) वह भी सत्य है।

(७) धर्म-परिवर्तन मिथ्या से सत्य की ओर गमन नहीं, अपितु एक सत्य से दूसरे सत्य की ओर गमन है।

(८) जैसे हम यदि किसी खम्भे पर चढ़ना चाहें, तो हम नीचे के स्थान से क्रमश: ऊपर के स्थान पर चढ़ते हैं, परन्तु इन सभी स्थानों की समष्टि ही वह खम्भा है। उसी प्रकार इन सभी धर्ममतों का समष्टि-स्वरूप है – सत्यधर्म; और इन समस्त ईश्वर-भावों की समष्टि ही ईश्वर है।

(९) अतएव प्रत्येक धर्म ही सत्य है; और बाद में जो सभी धर्म समाज में प्रसारित होंगे, वे भी सत्य हैं।

(१०) अतएव ईश्वर साकार, निराकार, अव्यय तथा और भी क्या-क्या हैं – यह मैं नहीं जानता।

(११) इस पृथ्वी-लोक में जितने भी भाव हुए हैं तथा हो सकते हैं; और अनन्त जगत् में जितने होंगे; और अन्य लोकों में जितने हैं तथा हो सकते हैं; भूलोक, द्युलोक तथा अनन्त लोकों में जितने गुण हैं तथा होने सम्भव हैं; और भाव, रूप, गुण, जिस प्रकार मनुष्य-जीव के मानसिक वृत्ति में प्रस्फुटित होते हैं, उसी प्रकार उच्चतर तथा उच्चतम चिदात्मा जीव-समूह का यदि अस्तित्व हो, और उनकी मानसिक वृत्ति में भी यदि और भी कितने ही प्रकार के मनुष्यों का ज्ञान तथा कल्पनातीत भाव आदि हों – इन सभी की समष्टि – विराट् पुरुष का नाम ईश्वर है।

(१२) पूर्वपक्ष – तो क्या ईश्वर में स्वरूप-व्याघात,

स्वगुण-व्याघात आदि दोष विद्यमान हैं?

(१३) भयभीत मत होना। धीर भाव से विश्लेषण करो। मान लो, एक शक्ति किसी एक वस्तु के ऊपर गति-कार्य की चेष्टा कर रही है – केवल एक, तो फिर गति असम्भव है। यह निश्चित है, उससे भी अधिक शक्ति एक दिशा (direction) में कार्य करने से भी नहीं होगा; परन्तु विभिन्न अर्थात् व्याहत (विपरीत)-भाव से करने पर होगा, (contrary and contradictory)। तथापि प्रत्येक शक्ति ठीक उसी के प्रतिरूप प्रतिघात-शक्ति के द्वारा व्याहत होती है, यह भी सत्य है। (3rd Law of Newton)

(१४) सम्पूर्ण जगत् चल रहा है।

(१५) अतएव विश्वव्यापी यह व्याघात (बाधा) विद्यमान है और यही विश्व का जीवन है।

(१६) जीवन क्या है? – प्रतिक्षण मृत्यु।

(१७) जो महाशक्ति बाघ में हनन-इच्छा की सृष्टि करती है, वही हिरण में भागने की इच्छा की भी सृष्टि करती है। अन्यथा अनेक ईश्वर के अस्तित्व का दोष होगा।

(१८) प्रत्येक मन में क्या काम-शान्ति, क्रोध-प्रीति आदि का विपरीत जोड़ा विद्यमान नहीं है?

(१९) अतएव पूर्वकाल के सभी धर्मों ने – एक श्रेणी के कार्य तथा उसके कारण का विश्लेषण मात्र किया है, अन्यों (कार्य-कारणों) का नहीं किया है।

(२०) पूर्वपक्ष – एक श्रेणी के कार्य, जैसे दया, धर्म आदि यथार्थ सत् – दूसरी श्रेणी अर्थात् पाप आदि मायिक है अर्थात् उनका (पहली श्रेणी का) अभाव मात्र है।

(२१) उत्तर – ऐसा होने पर हमें भी उलटकर बोलने का अधिकार है; जैसे – पाप आदि सत्य हैं और पुण्य आदि मायिक हैं।

(२२) दोनों की सत्ता समान है, दोनों के कार्य एक ही प्रकार के हैं। अतएव कारण भी एक ही प्रकार का है।

परवर्ती व्याख्यानों में यह अनुभूति

स्वामीजी ने बाद के दिनों के व्याख्यानों में भी उपरोक्त अनुभूति प्रतिध्वनित हुई है। यथा १८९५ ई. के जून में सहस्रद्वीपोद्यान में अपने चुनिंदा शिष्यों के समक्ष उन्होंने बाइबिल के सन्त जॉन कृत सुसमाचार की व्याख्या करते हुए कहा था, " 'आदि में शब्द मात्र था, वह शब्द ब्रह्म के साथ विद्यमान था और वह शब्द ही ब्रह्म है।' हिन्दू लोग इस (शब्द) को माया या ब्रह्म का व्यक्त भाव कहते हैं, क्योंकि यह ब्रह्म की ही शक्ति है। जब उस निरपेक्ष ब्रह्मसत्ता को हम माया के आवरण में से देखते हैं, तब हम उसे 'प्रकृति' कहते हैं। 'शब्द' की अभिव्यक्तियाँ द्विविध हैं, एक है यह प्रकृति – यह है साधारण अभिव्यक्ति। और इसकी विशेष अभिव्यक्तियाँ हैं – कृष्ण, बुद्ध, ईसा, रामकृष्ण आदि सब अवतार-पुरुष। उस निर्गुण ब्रह्म की विशेष अभिव्यक्ति – ईसा को हम जानते हैं, वे हमारे लिए ज्ञेय हैं। किन्तु निर्गुण ब्रह्म को हम नहीं जान सकते। हम परम पिता (परमात्मा) को नहीं जान सकते, उसके पुत्र (अवतार) को जान सकते हैं। निर्गुण ब्रह्म को हम केवल 'मानवत्व रूपी रंग' (अवतार) में ही देख सकते हैं।"[१०]

---

९. श्रीरामकृष्ण लीलामृत (बँगला), बैकुण्ठ नाथ सान्याल, कलकत्ता, सं. १९८३, पृ. १३७-३९; १०. विवेकानन्द साहित्य, प्र.सं., खण्ड ७, पृ. ७

❖ (क्रमशः) ❖

भगवान साकार भी हैं और निराकार भी

ईश्वर साकार हैं, साथ ही निराकार भी। एक बार एक संन्यासी जगन्नाथ-मन्दिर में आया। जगन्नाथ जी की मूर्ति को देखते हुए वह मन-ही-मन तर्क करने लगा कि भगवान साकार हैं या निराकार। उसने अपनी लाठी को बायें से दायें घुमाया – यह देखने के लिए कि वह मूर्ति को स्पर्श करती है या नहीं। लाठी ने कुछ भी स्पर्श नहीं किया। उसने समझ लिया कि उसके सामने कोई मूर्ति नहीं है; और उसने निष्कर्ष निकाला कि ईश्वर निराकार हैं। दूसरी बार लाठी को दायें से बायें घुमाया। इस बार लाठी ने मूर्ति का स्पर्श किया। संन्यासी ने समझ लिया कि ईश्वर के रूप भी हैं। इस प्रकार उसने अनुभव कर लिया कि ईश्वर साकार भी हैं और निराकार भी।

– *श्रीरामकृष्ण*

सांसारिक जीवन में भगवत्प्राप्ति

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

यह प्रश्न बहुधा मनुष्य के मन में उठा करता है कि क्या सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए भगवान को पाया जा सकता है? इसका उत्तर यदि थोड़े से शब्दों में देना हो, तो कहा जा सकता है कि यदि सांसारिक जीवन धर्म का अविरोधी हो, तो अवश्य उसे व्यतीत करते हुए भगवत्प्राप्ति की जा सकती है। वस्तुत: भगवान तो हमारे भीतर ही विद्यमान हैं और वे हमें सतत प्राप्त हैं। पर जिसके माध्यम से हमें उस सत्य की प्रतीति करनी है, उस मन के मैला होने के कारण वे हमें अप्राप्त लगते हैं। उदाहरणार्थ मान लीजिए कि मैं दर्पण में अपने को देखता हूँ और दर्पण में तह-की-तह धूल जमी हुई है। तो मैं अपना प्रतिबिम्ब उसमें नहीं देख पाऊँगा। जैसे-जैसे मैं दर्पण की धूल साफ करूँगा, वैसे-वैसे मुझे उसमें अपना प्रतिबिम्ब अधिकाधिक साफ दिखाई पड़ेगा और जब धूल पूरी तरह साफ हो जायगी, तब मैं जैसा हूँ दर्पण में ठीक वैसा ही दिखाई दूँगा। इसी प्रकार भगवान को देखने की बात है। हम अपने मन के दर्पण में भगवान को देखते हैं, उनकी प्राप्ति करते हैं। मन-दर्पण के मैला होने पर भगवान के हमारे अपने भीतर होते हुए भी, वे नहीं दिखाई पड़ते। मन-दर्पण के साफ होते ही वे जैसे हैं, वैसे ही भीतर प्रत्यक्ष होते हैं। इसी को भगवत्प्राप्ति कहा जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि मन-दर्पण कैसे साफ हो? क्या उसे साफ करने के लिए हमें संसार को छोड़कर कहीं जंगल में जाना पड़ेगा? नहीं, वह तो नहीं करना होगा, पर हमें अपना सांसारिक जीवन इस प्रकार बिताना होगा, जिससे मन-दर्पण पर और मैल न जमे, बल्कि पहले की जमी मैल भी धीरे-धीरे साफ हो। सांसारिक जीवन बिताने की मूलत: दो पद्धतियाँ हैं। एक पद्धति तो वह है, जहाँ मनुष्य के सामने जीवन का कोई उच्चतर लक्ष्य नहीं होता, वह पशु-वृत्ति से ऊपर नहीं उठ पाता और मात्र इन्द्रिय-भोगों का जीवन व्यतीत करता है। और दूसरी पद्धति वह है, जहाँ मनुष्य भगवत्प्राप्ति को अपने जीवन का लक्ष्य मानता है और इसलिए संसार की अपनी समस्त क्रियाओं को तदनुरूप मोड़ देता है। पहली पद्धति से भगवान नहीं मिलते, क्योंकि मनुष्य उन्हें नहीं चाहता, वह मात्र भोग-सुख चाहता है। दूसरी पद्धति से भगवान की अवश्यमेव प्राप्ति होती है, क्योंकि मनुष्य अपने सांसारिक कर्मों को इस प्रकार करता है, जिससे मन-दर्पण साफ होता जाता है।

श्रीरामकृष्ण से जब किसी ने पूछा कि क्या संसार में रहकर भगवान को पाया जा सकता है, तो उन्होंने उत्तर में कहा – हाँ। पर साथ ही यह कहना वे नहीं भूले कि यह तो तभी सम्भव है, जब तुम रहो तो संसार में, पर संसार तुममें न रहे, जैसे नाव पानी में रहती है, पर पानी नाव में नहीं रहता। यदि पानी नाव में रहने लगे, तो नाव डूब जाएगी। इसी प्रकार यदि संसार मनुष्य में रहने लगे, तब तो सांसारिकता मनुष्य को डुबो देगी। प्रश्न उठता है कि हम तो संसार में रहें, पर संसार हममें न रहे, यह कैसे सम्भव हो सकता है? गीता इसका उत्तर देते हुए इस उपाय को 'कर्मयोग' बताती है। कर्मयोग वह रसायन है, जो हमें कमलपत्रवत संसार-जल से अलिप्त रखता है। वैसे तो हमारा हर सांसारिक कर्म हमारे मन-दर्पण पर संस्कार की धूल जमा देता है, पर जब हम योग का भाव लेकर कर्म करते हैं, तो कर्म फिर कर्मयोग बन जाता है और मन-दर्पण की धूल को साफ करने का सक्षम साधन हो जाता है।

कर्मयोग का मतलब है – कर्म, अकर्म और विकर्म के भेद को समझकर अकर्म और विकर्म का त्याग कर देना और कर्म को ईश्वर-समर्पित बुद्धि से करना। कर्म का मतलब है, कर्तव्य-कर्म। मनुष्य जिस स्थान पर है, वहाँ उसके लिए जो करना उचित है, उसे कर्म कहते हैं। अकर्म का तात्पर्य है आलस्य, प्रमाद, कर्म के उत्साह का अभाव। और विकर्म का अर्थ है – विपरीत कर्म, शास्त्र-निन्दित, समाज-निन्दित अशुभ कर्म। तो, कर्मयोग कहता है कि विकर्म और अकर्म से बचो तथा कर्म का सम्पादन करो, और वह भी भगवत्समर्पित बुद्धि से। अर्थात् कर्म करते हुए उस भावना को मन में मजबूत करो कि तुम अपना कर्म का कर्तापन तथा फल का भोक्तापन प्रभु को सौंप दे रहे हो और तुम उनके हाथों यंत्रमात्र हो। इस भावना से युक्त होकर सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए भी मनुष्य ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है। ❑❑

स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण

एक शिष्य

(भगवान श्रीरामकृष्ण के एक प्रधान शिष्य तथा रामकृष्ण मठ तथा मिशन के प्रथम संघाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्दजी आध्यात्मिक भावों के एक अपूर्व ज्योतिपुंज थे। उनके बारे में ये संस्मरण हालीवुड (अमेरिका) से प्रकाशित होनेवाली अंग्रेजी द्विमासिक पत्रिका 'वेदान्त एंड द वेस्ट' के मार्च-अप्रैल १९६० के अंक में प्रकाशित हुए थे। वहीं से स्वामी विदेहात्मानन्दजी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

जब मैं करीब आठ या नौ वर्ष का था, तभी मेरे एक सम्बन्धी ने मुझे श्रीरामकृष्ण की एक छोटी-सी जीवनी पढ़ने को दी। यद्यपि मैं उसकी कुछ बातें समझ नहीं सका था, तथापि उस पुस्तक ने मेरे मन को बड़ा प्रभावित किया। बाद में 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ में मैंने पढ़ा कि श्रीरामकृष्ण नरेन, राखाल तथा कुछ अन्य युवकों का 'नित्यसिद्ध' के रूप में उल्लेख करते हैं। मुझे मालूम नहीं था कि इन शब्दों का क्या अर्थ है, तथापि मैं इतना अवश्य समझ गया कि श्रीरामकृष्ण जिन शिष्यों के लिए इस शब्द का प्रयोग करते थे, वे लोग आध्यात्मिक दृष्टि से काफी उन्नत होंगे और एक अलग ही श्रेणी में रखे जायेंगे।

मैं ज्यों-ज्यों बड़ा होने लगा, श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के विषय में जो कुछ भी मिला, उसे पढ़ता रहा और जब कॉलेज की पढ़ाई के लिए कलकत्ता पहुँचा, तो अवसर मिलते ही मैं उद्बोधन तथा दक्षिणेश्वर जाने लगा। उन दिनों कलकत्ते से बेलूड़ मठ आना-जाना बड़ा ही कठिन था, अत: मैं प्राय: उद्बोधन कार्यालय ही जाया करता था। वहाँ मेरी एक स्वामीजी के साथ जान-पहचान हो गयी, जो मुझे स्वामी तुरीयानन्द के पास ले गये। श्रीरामकृष्ण के शिष्यों में सर्वप्रथम मैंने उन्हीं का दर्शन किया था।

तुरीयानन्दजी को मैंने रामकृष्ण संघ में सम्मिलित होने की अपनी इच्छा बतायी, परन्तु वे बोले, "नहीं, अभी नहीं। पहले अपनी पढ़ाई पूरी कर लो। जब तुमने एक कार्य हाथ में लिया है, तो पहले उसी को समाप्त कर डालो।" इसके बाद कई दिनों तक उनके साथ मेरी जोरदार बहस होती रही।

मैं प्राय: प्रतिदिन ही और कभी-कभी सुबह-शाम दोनों समय तुरीयानन्दजी से मिलने जाया करता था। मैं जानता था कि वे एक महापुरुष हैं, परन्तु मुझे यह बोध नहीं हो सका था कि उनके चरणों में बैठकर उनकी वाणी का श्रवण करना मात्र ही मेरे लिए परम सौभाग्य की बात है। अत: अपनी मूर्खता की झोंक में मैं सर्वदा ही उनके साथ तर्क-वितर्क में लगा रहता था, और अब मैं इसके लिए अत्यन्त शर्मिन्दा हूँ। सम्भव है कि उन्होंने जान-बूझकर ही मुझे तर्क-वितर्क करने का मौका दिया हो, क्योंकि उनमें इच्छा मात्र से ही मुझे चुप कर देने क्षमता थी।

तुरीयानन्दजी के साथ वाद-विवाद करते रहने से एक लाभ तो यह हुआ कि उनके साथ मेरी बड़ी घनिष्ठता हो गयी। शास्त्रों में लिखा है कि सत्पुरुषों का क्षण भर के लिए भी संग होना, महान आध्यात्मिक उपलब्धियों का मूल है। एक दिन ऐसे ही बहस करते समय उन्होंने कहा, "तुम महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) के पास क्यों नहीं जाते? पर जान रखना, उनके साथ ऐसा तर्क-वितर्क नहीं चलेगा। तब तक मैं तुरीयानन्द जी के साथ खूब घुल-मिल चुका था और मुझे अपने लिए इतना ही यथेष्ट लगता था, अत: उन दिनों मैं किसी और के पास जाने की मन:स्थिति में नहीं था। एक दिन उन्होंने मुझे बताया, "एक समय था, जब मैं किसी भी व्यक्ति का मन काँच की आलमारी के समान देख पाता था।" जीवन में पहली बार मैंने किसी के मुख से एक ऐसी बात सुनी और मैं उस पर अविश्वास नहीं कर सका।

कॉलेज के आगामी सत्र में मुझे एक छात्रावास में रहना पड़ा, जिसके दो अन्य अन्तेवासी भी महाराज के शिष्य थे। उनके कुछ मित्र भी माताजी तथा महाराज के कृपापात्र थे। इस प्रकार विचारों तथा आदर्शों का मेल होने के कारण हम आपस में लगाव रखनेवाले छात्रों का एक अलग ही दल गढ़ उठा और हम प्राय: ही आपस में मिलते रहते। महाराज से मिलने कभी-कभी हम लोग बेलड़ मठ और प्राय: कलकत्ते के बलराम मन्दिर जाया करते थे। इस प्रकार महाराज के साथ मेरी व्यक्तिगत रूप से जान-पहचान हो गयी थी।

महाराज जहाँ कहीं भी निवास करते, लोग झुण्ड-के-झुण्ड उनका दर्शन करने आते और उन्हें प्रणाम करने के लिए हमें काफी काल तक प्रतीक्षा करनी पड़ती। इन आगन्तुकों में वयस्क तथा तरुण संन्यासी और पुराने तथा नये भक्त भी थे। हम अभी छोटे थे, अत: दूसरे लोगों का दर्शन हो जाने तक हमें प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। पर एक बार जब हम महाराज के सान्निध्य में पहुँच जाते, तो लगता कि अपने इन्तजार का हमें उचित से भी कहीं अधिक फल प्राप्त हो गया है।

धीरे-धीरे मेरे मन में महाराज से दीक्षा पाने की इच्छा जागने लगी। मुझे पता चला कि वे इसके लिए सहज ही राजी नहीं होते। ऐसे भी उदारहण मिले कि लोगों को दीक्षा के लिए वर्षों प्रतीक्षा करनी पड़ी थी और किसी-किसी को तो इसका सौभाग्य भी नहीं हो सका था। तथापि मैं उनसे दीक्षा पाने को तुला हुआ था। और इस हेतु अनुरोध करने के लिए चूँकि महाराज को अकेले में पाना कठिन था, अत: मैंने एक योजना बनायी। गर्मी का मौसम होने के कारण उन दिनों

लोग प्राय: शाम को ठण्डक हो जाने पर ही महाराज से मिलने आते थे और दोपहर में उनके पास किसी के आने की सम्भावना नहीं थी। अत: एक दिन तपती दुपहरी में ही मैं बलराम मन्दिर को चल पड़ा। ट्राम के अड्डे से उस मकान तक का रास्ता बड़ा कष्टदायी था। वहाँ पहुँचकर मैं लम्बी प्रतीक्षा के लिए तैयार होकर एक बेंच पर आसीन हो गया। परन्तु चन्द मिनट बाद ही महाराज के द्वार खुले और वे बाहर आये। मुझे देखकर वे विस्मित-से हुए और कहने लगे, "अरे, तुम यहाँ हो ! क्या चाहते हो तुम?"

मैंने सहमकर उत्तर दिया, "महाराज, मैं आपसे कुछ बातें करना चाहता हूँ।"

उन्होंने मुझे इन्तजार करने को कहा। थोड़ी देर बाद वे मुझे साथ लेकर उस बड़े हॉल में गये, जहाँ श्रीरामकृष्ण के जीवनकाल में उनकी अनेक लीलाएँ हो चुकी थीं। महाराज और उनके साथ ही मैं भी वहाँ टहलने लगा। धड़कते हृदय के साथ मैंने उनके समक्ष अपनी दीक्षा की आकांक्षा व्यक्त की और यह देखकर मुझे बड़ा ही विस्मय हुआ कि उन्होंने मेरी प्रार्थना तत्काल स्वीकार कर ली। यही प्रथम अवसर था, जबकि मैंने उनके साथ व्यक्तिगत रूप से बात की थी और उनकी उपस्थिति में अपने आपको पूर्णत: नि:संकोच महसूस किया था। उनका व्यवहार इतना स्नेहमय था कि मेरा सारा भय तथा संकोच न जाने कहाँ चला गया। ऐसा लगा मानो मेरी काफी अर्से से उनके साथ आत्मीयता रही हो।

कुछ सप्ताह बाद मैं फिर आकर उसी हॉल में उनसे मिला, हम फिर वहीं टहले और पुन: कुछ वैसी ही घटना हुई। ऐसे समय महाराज मानो आध्यात्मिकता के शिखर से मेरे स्तर पर उतर आते और मुझे लगता कि मैं उनके साथ किसी भी विषय पर नि:संकोच वार्तालाप कर सकता हूँ।

इस द्वितीय अवसर पर उन्होंने मुझसे कहा, "देखो, क... कहता है कि मुझे (मिशन के किसी कार्यवश) पंजीकरण कार्यालय में जाना होगा। ये लोग मुझे चैन से जप-ध्यान भी नहीं करने देते।" मुझे आश्चर्य हुआ कि महाराज ये बातें मुझसे क्यों कह रहे हैं। कोई सपने में भी नहीं सोच सकता था कि उन्हें अब भी साधना की आवश्यकता है। तथापि उन्होंने यह बात मुझे इतनी स्वाभाविकता के साथ कही, मानो मैं उनका एक विश्वस्त मित्र होऊँ और तब भी मैं अल्पवय तथा नव-परिचित ही था।

सम्भवत: पहली बार मिलने पर उन्होंने मेरे समक्ष अपने मन का खेद व्यक्त करते हुए कहा था, "देखो, बहुत-से लोग यहाँ आकर अनुनयपूर्वक दीक्षा ले जाते हैं, पर लौटकर कुछ भी नहीं करते और इस कारण मुझे बड़ा कष्ट उठाना पड़ता हैं।" यह सुनते ही मैंने वचन दिया कि मैं कदापि उनके लिए कष्ट का कारण नहीं बनूँगा। (यह काफी पुरानी बात है, परन्तु अब जब मैं इस घटना का स्मरण करता हूँ, तो लगता है कि क्या मैं सचमुच ही अपना वह वचन निभा सका !) महाराज मुझे दीक्षा देने को राजी तो हुए, पर बोले, "यह मौसम उपयुक्त नहीं है। तुम अक्तूबर में आना, मैं तुम्हारी दीक्षा के लिए कोई अच्छा दिन निर्धारित कर दूँगा।"

यहीं से मेरी समस्याओं का सूत्रपात हुआ। अक्तूबर का महीना आया और मैंने उनसे अकेले में मिलने का प्रयास किया, पर यह आसान नहीं था। जब कभी मैं उनसे मिलने को जाता, तो कोई-न-कोई उनके पास रहता, या वे कहते, "आज मेरी तबीयत ठीक नहीं है।" ऐसे में उनके साथ कोई गम्भीर चर्चा सम्भव न थी।

ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, त्यों-त्यों दीक्षा पाने के लिए मेरी उद्विग्नता भी बढ़ती गयी। मुझे चिन्ता हुई कि यदि कहीं किसी कारणवश वे बंगाल के बाहर गये, तो फिर उनके लौटने में काफी दिन लग सकते हैं; और यदि वे ऐसे समय लौटे, जब मैं कलकत्ते से बाहर रहूँ, तो मौका पूरी तौर से निकल जायेगा। मैं पहले के ही समान अन्य लोगों के साथ महाराज के दर्शन करने जाता, परन्तु उन्हें अपनी दीक्षा की तिथि निर्धारित करने की बात याद दिलाने को अकेले में मिलने का अवसर ही नहीं मिलता। कभी-कभी तो मन-ही-मन अधीर हो उठता। एक मित्र ने मुझे सावधान करते हुए कहा, "ऐसा मत सोचना, नहीं तो तुम्हें और भी लम्बे समय तक इन्तजार करना पड़ा सकता है। अ.. ने भी अधीरता दिखायी थी, तो उसे बारह साल प्रतीक्षा करनी पड़ी।"

लगता है महाराज को मेरी मानसिक अशान्ति का पता था, क्योंकि उन्होंने कुछ छोटी-मोटी घटनाओं के दौरान इस ओर इंगित भी किया था। एक दिन बेलूड़ मठ में हम कुछ विद्यार्थी बाल्टियों में जल लाकर मठ-भवन के दूसरे छोर पर रखे हौज को भर रहे थे। महाराज दूसरी मंजिल पर स्थित अपने कमरे के बरामदे में खड़े गंगादर्शन कर रहे थे। वैसे तो वे ऊपर खड़े होकर नीचे लान में किसी के साथ बातें नहीं करते थे, परन्तु मेरे काफी दूर होने के बावजूद उन्होंने वहीं से पुकारकर कहा, "क्यों, कैसे हो? तुमने जलपान किया या नहीं?" ऐसी पूछताछ कोई खास महत्त्व की न थी, परन्तु इसके फलस्वरूप मेरा मन क्षण भर में ही शान्त हो गया। मुझे महसूस हुआ कि उनके पूछने में शब्दार्थ से कहीं अधिक गूढ़ार्थ निहित है।

महाराज के साथ परिचय होने के प्रारम्भिक दिनों की बात है। एक दिन संध्या के समय मैं बड़ी ही अशान्त मन:स्थिति में उनके दर्शन को गया था। वे अपने बिस्तर पर बैठे ध्यान कर रहे थे। कई अन्य संन्यासी तथा भक्त भी उसी छोटे-से कमरे में नीचे फर्श पर बैठकर ध्यान कर रहे थे। मुझे भी बैठने को थोड़ी-सी जगह मिल गयी। थोड़ी देर बाद एक-

एक कर सभी चले गये।

महाराज ने मुझसे पूछा, "क्या चाहते हो?" मैं बोला, "महाराज, जब आप जैसे लोग ईश्वर के बारे में बोलते हैं, तो अविश्वास नहीं किया जा सकता, परन्तु भक्ति की सहज ही उपलब्धि क्यों नहीं होती? इसके लिए हम क्या करें?" मैंने सोचा था कि ऐसे प्रश्न पर महाराज कहीं खीझ न उठें, परन्तु ऐसा हुआ नहीं। उन्होंने बड़े स्नेह तथा सहानुभूति के साथ मेरी ओर देखा और इतने मात्र से ही मेरी आधी समस्याओं का समाधान हो गया। तदुपरान्त वे कहने लगे, "देखो, धर्म सर्वाधिक व्यहावरिक वस्तु है। साधना करने पर फल अवश्यम्भावी है। यदि कोई यंत्रवत करते हुए निष्ठापूर्वक लगा रहे, तो समय आने पर उसे सब प्राप्त हो जायगा।"

मैं चुप रहा; मेरा चित्त भी शान्त हो गया। मुझे तुरीयानन्दजी की वह उक्ति याद हो आयी कि महाराज के साथ कोई तर्क-वितर्क नहीं चलेगा। उनका कथन सौ फीसदी सही था। मैंने पाया कि महाराज के समक्ष युक्ति-तर्क व्यर्थ है।

इस प्रकार महाराज ने मेरे मन में यह भाव दृढ़तापूर्वक अंकित कर दिया कि साधना की अतीव आवश्यकता है। फिर वे बोले, "यदि तुम ईश्वर की ओर एक कदम आगे बढ़ते हो, तो वे तुम्हारी ओर लाख कदम आते हैं।" यह तो मेरे लिए बड़े ही विस्मय की बात थी। क्षण भर में ही मैंने हिसाब लगा लिया कि यदि मेरे एक कदम ईश्वर की ओर चलने पर वे एक कदम भी मेरी ओर आयें, तो भी यह एक बड़ी बात होगी और फिर लाख कदम का तो कहना ही क्या! यह तो कुछ ऐसा ही हुआ, मानो एक भिखारी सहसा ही लखपति बन गया हो। मेरे आनन्द की सीमा न रही।

देरी हो रही थी, इस कारण महाराज ने मुझे घर जाने को कहा। परन्तु मेरे विदा लेने के पूर्व उन्हों मुझे आश्वस्त किया कि वे मुझे साधना सम्बन्धी निर्देश देंगे और इसके लिए उन्होंने मुझे किसी उपयुक्त दिन आने के लिये कहा।

इसीलिये एक दिन बड़े सबेरे ही मैं महाराज से मिलने गया, क्योंकि उस समय शायद ही कोई उनसे मिलने आता था। उनके कमरे के द्वार खुले थे, और वे पिछली बार के समान ही अपने बिस्तर पर बैठे ध्यानमग्न थे। कुछ अन्य संन्यासी भी उस कमरे मैं बैठकर ध्यान कर रहे थे। सबके चले जाने पर महाराज ने मेरे आने का कारण पूछा, तो मैंने बताया, "आपके निदेशनुसार ही आया हूँ।" वे थोड़ी देर तक ध्यान करते रहे, फिर मुझे इन्तजार करने को कहकर बरामदे में चले गये। मैंने काफी देर तक प्रतीक्षा की, फिर देखा कि अब और ठहरने से कॉलेज छूट जाने का भय है। परन्तु चूँकि महाराज मुझे प्रतीक्षा करने को कह गये थे, अत: मेरी वहाँ से उठने की इच्छा नहीं हुई। बड़ी देर तक सोच-विचार करने के बाद मैंने बगल के कमरे से झाँककर देखा, तो महाराज वहाँ बैठे समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। उनकी दृष्टि मुझ पर पड़ी और वे बोले "शीघ्र आ रहा हूँ। मैं इस घटना का उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ कि मुझे कितने ही बार इस बात के लिए पछतावा हुआ है कि महाराज के प्रतीक्षा करने को कहने के बावजूद में उनकी तलाश में क्यों गया! प्रतीक्षा के लिये बैठाने का शायद उनका कोई खास मकसद रहा हो।

महाराज के आने पर मैंने उन्होंने बताया कि मुझे ईश्वर के प्रति सहज श्रद्धा-भक्ति का अभावबोध होता है और इसी कारण मैं उनका मार्गदर्शन चाहता हूँ। उन्होंने मुझे साधना-विषयक कुछ निर्देश दिये और कुछ दिनों तक उन्हें पालन करने को कहा। उस दिन उन्होंने मुझे यह भी बताया कि यदि कोई दो, तीन, पाँच या अधिक-से-अधिक बारह वर्ष तक साधना करे, तो फल अवश्यम्भावी है। मैंने विदा ली। मेरे हर बार विदा लेते समय महाराज निश्चित रूप से कहते, "जितनी बार भी हो सके, आते रहना।" या फिर कहते, "अपनी सुविधानुसार बीच-बीच में आते रहना।"

महाराज मुझे ध्यान-सम्बन्धी प्राथमिक निर्देश दे चुके थे, परन्तु वास्तविक दीक्षा के लिए मुझे अभी और प्रतीक्षा करनी थी। अत: मैं सदा मन-ही-मन चिन्तित रहा करता था। एक बीमारी के पश्चात मैं छात्रावास के अपने कमरे में रहकर आरोग्य-लाभ कर रहा था। एक दिन दो मित्र मुझसे मिलने के लिए आ गये। उनमें से एक को महाराज अगले दिन दीक्षा प्रदान करनेवाले थे। मैंने सोचा, "क्या मेरे लिए भी कोई सम्भावना है? या फिर यह अवसर भी हाथ से निकल जायगा?" शारीरिक रूप से दुर्बल होने के बावजूद मैं उन लोगों के साथ बेलूड़ मठ गया, परन्तु उस दिन संध्या को मैं महाराज से नहीं मिल सका।

अगले दिन सुबह मैं पुन: मठ गया। महाराज बरामदे में बैठे थे। मैं उनके साथ चर्चा करने के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में बैठ गया। थोड़ी देर बाद उनका ध्यान मेरी और उन्मुख हुआ और वे बोले, "तुम वहाँ बैठे क्या कर रहे हो? जाओ, गंगा में स्नान कर आओ।" क्या यह इस बात की ओर संकेत था कि आज वे मुझे दीक्षा देंगे? मुझे तो ऐसा ही लग रहा था, परन्तु निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता था। मैं भी उन तीन लोगों के साथ हो लिया, जिन्हें दीक्षा की पक्की अनुमति मिल चुकी थी। परन्तु मैं अन्तिम क्षणों तक दुविधा में पड़ा रहा। तदुपरान्त महाराज की कृपा से मुझे मेरी मनोवांछित वस्तु प्राप्त हुई।

महाराज जब सहज भाव से मुझे दीक्षा देने को राजी हुए थे, और जब मुझे वास्तविक रूप से इसकी प्राप्ति हुई, इसके बीच के मेरे दो माह इतनी मानसिक आशान्ति तथा अनिश्चितता में बीते थे, मानो पूरा एक वर्ष बीत गया हो। सम्भव है कि

महाराज ने मेरी व्याकुलता को बढ़ाने या फिर मेरी निष्ठा को परखने के लिए ही जान-बूझकर इस भयानक मानसिक तनाव के बीच रखा हो। मेरे अन्य मित्रों के अनुभव से भी मेरे इसी विचार की पुष्टि हुई कि महाराज के प्रत्येक वाक्य तथा कार्य के पीछे आभासमान से कहीं अधिक गूढ़ उद्देश्य निहित है।

महाराज के बेलूड़ मठ निवासकाल में मैंने वहाँ दुर्गापूजा देखी। तीन दिनों की पूजा के दौरान एक दिन मैंने महाराज को संध्या-आरती में बैठे देखा। अनेक संन्यासी तथा भक्त उपस्थित थे और आरती के समय सभी मौन खड़े थे। आरती के बाद विग्रह के चँवर डुलाने की प्रथा है। महाराज स्वयं ही भक्ति तथा शान्तिपूर्वक काफी काल तक चँवर डुलाते रहे। वह एक देवदुर्लभ दृश्य था। मूर्तिपूजा के बारे में एक अभिनव अन्तर्दृष्टि उत्पन्न करने को ऐसा एक ही दृश्य पर्याप्त था।

इसके उपरान्त महाराज दक्षिण भारत की यात्रा पर चले गये और १९२१ ई. के अन्त में वहाँ से लौटकर भुवनेश्वर आये। वहाँ उनकी व्यक्तिगत देख-रेख में एक मठ का निर्माण हुआ था। दिसम्बर के मध्य में मैं भुवनेश्वर जाते हुए कलकत्ते में ठहरा। भुवनेश्वर पहुँचकर महाराज के सान्निध्य में मेरी क्रिसमस सप्ताह मनाने की इच्छा थी। कलकत्ते में एक वरिष्ठ संन्यासी ने मुझसे पूछा, "क्या तुमने उनसे अनुमति प्राप्त कर ली है। बिना पूर्वसूचना के किसी का भुवनेश्वर जाना महाराज को पसन्द नहीं है।" मैंने महाराज को अनुमति के लिए तो नहीं लिखा था, परन्तु मैं उनके दर्शन करने का दृढ़ निश्चय कर चुका था। मैंने सोचा कि आवश्यकता हुई, तो आश्रम के बाहर भी ठहर सकता हूँ, परन्तु जाऊँगा अवश्य। भुवनेश्वर पहुँचने पर महाराज ने मेरे बिना-अनुमति आने के विषय में जरा भी नाराजगी नहीं दिखायी। उनके सान्निध्य में रहते हुए मेरे चार-पाँच दिन बड़े ही आनन्द में बीते। उन दिनों वहाँ कटक से भी कुछ अतिथि आये हुए थे। महाराज उनकी सुविधा में व्यक्तिगत रूप से रुचि ले रहे थे। प्रतिदिन प्रात: और सायं जब महाराज मठ के चारों ओर फैले खुले मैदान में टहलने को निकलते, तो मैं उनके साथ हो लेता। बाकी समय विशेषकर जब महाराज मौन रहते, तो उनके पास पहुँचने का साहस जुटा पाना कठिन लगता था, परन्तु टहलते समय वे बड़े अलग भाव में रहते तथा खुलकर वार्तालाप करते थे। दो-तीन अन्य भक्त भी साथ हो लेते।

एक दिन बड़े सबेरे सूर्योदय के पूर्व ही मैं महाराज के कमरे में गया। उस समय वहाँ वे अकेले थे। मुझे भय हो रहा था कि कहीं मैं उन्हें डिस्टर्ब तो नहीं कर रहा हूँ। परन्तु उनकी ओर से ऐसा कोई संकेत नहीं मिला। वे बड़े ही उदार मन:स्थिति में थे। मैंने उनसे दो-एक प्रश्न किये, फिर कहने लगा, "सुना है कि आपने वाराणसी में कुछ संन्यासियों से कहा है कि यदि कोई तीन वर्ष तक साधना करता रहे, तो उसे कुछ उपलब्धि होना अवश्यम्भावी है। मैं यथासम्भव आपके निर्देशों के पालन करने का प्रयास कर रहा हूँ, परन्तु लगता नहीं कि मुझे कुछ लाभ हो रहा हो। लेकिन यह बात अवश्य है कि मैं आपके निर्देशों का यांत्रिक रूप से ही पालन कर पाता हूँ। प्रयास करना मात्र ही तो मेरे हाथों में है, परन्तु यदि उचित एकाग्रता न हो तो मैं क्या कर सकता हूँ?" महाराज ने इस पर थोड़ी भी नाराजगी नहीं दिखाई और मुझे एक ऐसा उत्तर दिया, जिसने मेरा हृदय शान्त कर दिया और भविष्य के लिए मार्गदर्शन के रूप में भी वह बड़ा ही उपयोगी सिद्ध हुआ।

मेरे भुवनेश्वर-प्रवास के दौरान मठ में क्रिसमस-संध्या' मनायी गयी। इस अवसर पर ईसा मसीह का पूजन, बाइबिल से पाठ तथा भजन हुए। महाराज ने भी यह उत्सव देखा। ऐसे अवसरों पर उनकी उपस्थिति मात्र से ही एक ऐसे अविस्मरणीय वातावरण की सृष्टि हो जाती थी, जो समारोह में भाग लेने वाले सभी लोगों के मन को उच्च भावों में उन्नीत कर देती थी।

महाराज के साथ अपने संघ में प्रवेश के विषय में चर्चा करना ही मेरे भुवनेश्वर जाने का उद्देश्य था। एक दिन मैंने उनके समक्ष यह प्रसंग उठाया। मेरी बात सुनने के उपरान्त उन्होंने मुझे एक सलाह दी। परन्तु मैंने स्पष्ट रूप से अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए बताया कि मैं किस कारण से उनके सुझाव पर अमल नहीं कर सकूँगा। उन्होंने कहा, "ठीक है, अप्रैल में मैं कलकत्ते में ही रहूँगा, वहीं आकर मुझसे मिलना।" मैंने भुवनेश्वर से विदा लेने की तिथि निर्धारित करके सबको बता दी थी, परन्तु महाराज को कहीं असुविधा न हो, इस भय से उन्हें इसकी सूचना नहीं दे सका था। मैं पुरीधाम होकर कलकत्ता जानेवाला था। प्रस्थान के पूर्व मैं महाराज से विदा लेने गया, और उन्हें अपनी जाने की योजना बतायी। परन्तु मुझे इस सम्बन्ध में प्रोत्साहित करने के स्थान पर महाराज धीमे स्वर में स्वगत ही कहने लगे, "वह पुरी जा रहा है।" मुझे लगा मानो उन्हें मेरा जाना या फिर उसी दिन जाना पसन्द नहीं आया। मुझे बड़ा ही विस्मय हुआ। अब भी मैं उनके उन शब्दों का मर्म समझ नहीं सका हूँ। चूँकि मेरा कार्यक्रम पूर्व-नियोजित था, मैं उसमें परिवर्तन नहीं कर सकता था। मैंने महाराज के चरण स्पर्श किये और विदा ली। यहीं अवसर था, जब मैंने उनका अन्तिम बार दर्शन किया। आगामी अप्रैल के महीने में उन्होंने कलकत्ते में देहत्याग कर दिया और जुलाई में मैं बेलूड़ मठ जाकर संघ में सम्मिलित हो गया।

ज्यों-ज्यों दिन बीतते जा रहे हैं, महाराज मुझे महान् से महत्तर प्रतीत होते हैं। अब तो ऐसा लगता है कि जिस भूमि पर वे खड़े थे, वह भी परम पुनीत है। ❑❑❑

स्वामी शुद्धानन्द (४)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

अपने त्यागी शिष्यों को आत्मज्ञान के पथ पर अग्रसर कराने तथा उन लोगों के शरीर-मन को उपयुक्त साधन बनाने की ओर स्वामीजी की बड़ी कठोर दृष्टि थी। उनके किसी भी शिष्य के हृदय पर कामिनी-कांचन का लेश तक न लगे, इस विषय में वे विशेष रूप से सावधान रहते थे। उत्तम आचार्य का यही लक्षण है। शुद्धानन्द को एक उत्तम अधिकारी के रूप में गढ़ना था, इसीलिये उनके प्रत्येक पदक्षेप की ओर आचार्य की दृष्टि रहती थी। यहाँ पर एक घटना उल्लेखनीय है। उन दिनों वाहन या सड़क आदि की उतनी सुविधा नहीं थी। अत: एक समाचार-पत्र प्राप्त करने के लिये भी काफी परिश्रम करना पड़ता था। उन दिनों मठ को 'इंडियन मिरर' नाम का अंग्रेजी अखबार बिना मूल्य प्राप्त होता था। परन्तु उसके लिये प्रतिदिन वराहनगर जाकर वहाँ के विधवा-आश्रम से उसे लाना पड़ता था, क्योंकि वराहनगर के आगे उसका वितरण नहीं होता था; और उन दिनों मठ की आर्थिक दशा भी इतनी अच्छी न थी कि उसे डाकव्यय देकर प्राप्त किया जाता। इसलिये अखबार बाँटनेवाला उस आश्रम में ही मठ का समाचार-पत्र भी छोड़ जाता था। स्वामी निर्भयानन्द को यह जिम्मेदारी दी गयी थी कि वे प्रतिदिन दोपहर के भोजन के बाद वराहनगर जाकर वह समाचार-पत्र ले आएँ। निर्भयानन्द एक दिन शुद्धानन्द को भी अपने साथ ले गये। उनका उद्देश्य यह था कि जगह शुद्धानन्द का देखा हुआ होने पर कभी वे भी जाकर अखबार ला सकेंगे। निर्भयानन्द के ऊपर उन दिनों अनेक प्रकार के कार्यों का भार था और उसका दबाव भी काफी था। इधर दोपहर में स्वामीजी ने वेदान्त पढ़ाने के लिये शुद्धानन्द को बुलवाया। अस्तु, मठ लौटकर शुद्धानन्द ने सुना कि उनका महिलाओं के आश्रम में जाना स्वामीजी को अच्छा नहीं लगा। जब उन पर उस कार्य का दायित्व था ही नहीं, तो फिर किसी भी निमित्त से एक तरुण साधु का महिला-आश्रम में जाना उचित नहीं था। शुद्धानन्द को अपने जीवन की एक महान् शिक्षा मिली। उन्होंने निर्भयानन्द को सूचित कर दिया कि अब वे कभी उनके लिये समाचार-पत्र लाने वहाँ नहीं जा सकेंगे। त्यागीश्रेष्ठ स्वामी विवेकानन्द के शिष्य शुद्धानन्द के जीवन में यह शिक्षा आजीवन अग्निशिखा के समान प्रज्वलित दीख पड़ती थी। परवर्ती काल में उन्होंने स्वयं ही लिखा है –

"जिस दिन स्वामीजी मठ से रवाना होकर अल्मोड़ा जाने के लिये कलकत्ते गये, उस दिन सीढ़ी के बगल के बरामदे में खड़े होकर उन्होंने बड़े आग्रह के साथ नवीन ब्रह्मचारियों को सम्बोधित करते हुए ब्रह्मचर्य के बारे में जो बातें कही थीं, वे मानो अभी भी मेरे कानों में गूँज रही हैं। उन्होंने कहा था, 'देखो भाई, ब्रह्मचर्य के बिना कुछ भी न होगा। धर्मजीवन प्राप्त करना हो, तो उसमें ब्रह्मचर्य ही एकमात्र सहायक है। तुम लोग स्त्रियों से बिल्कुल भी संसर्ग न रखना। मैं तुम लोगों को स्त्रियों से घृणा करने को नहीं कहता, वे तो साक्षात् भगवती-स्वरूपा हैं; पर अपने को बचाने के लिये तुम लोगों को उनसे दूर रहने के लिये कहता हूँ। मैंने अपने व्याख्यानों में कई जगह कहा है कि संसार में रहकर भी धर्म होता है, उसे पढ़कर ऐसा न समझ लेना कि मेरे मत में धर्मजीवन के लिये ब्रह्मचर्य या संन्यास उतना आवश्यक नहीं है। क्या करता, उन भाषणों के सारे श्रोता संसारी थे, सभी गृही थे – ... ऐसे लोगों के लिये थोड़ी ढिलाई देनी पड़ती है, ताकि क्रमश: उनका पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श की ओर आकर्षण हो, इसीलिये मैंने उस तरह के भाषण दिये थे। मगर अपने अन्तर की बात तुम लोगों से कहता हूँ – ब्रह्मचर्य के बिना जरा भी धर्मलाभ न होगा। तुम लोग तन, मन और वाणी से ब्रह्मचर्य का पालन करना।' "

ज्ञान, कर्म, भक्ति तथा योग के समष्टि-विग्रह स्वामीजी के चरणों में बैठकर शुद्धानन्द ने अपने जीवन में एक अपूर्व समन्वय का आदर्श प्राप्त किया था। गुरुदेव के आशीर्वाद तथा उनके अमोघ शिक्षागुण से, शुद्धानन्द की साधना-यात्रा एक साथ ही ज्ञान-विचार, भक्ति-उपासना, कर्म-साधना तथा योगाभ्यास – चारों मार्गों पर समान गति से चलने लगी।

एक दिन तीसरे पहर बेलूड़ मठ के दुमंजले के बरामदे में स्वामीजी शुद्धानन्द आदि शिष्यों को वेदान्त पढ़ा रहे थे। धीरे -धीरे संध्या घिर आयी। मन्दिर में आरती का समय हुआ। बाबूराम महाराज ने आकर सबको आरती में जाने के लिये कहा। शिष्यों की यह असमंजस अवस्था को देखकर स्वामीजी बाबूराम महाराज से बोले, "यह जो वेदान्त पढ़ा जा रहा था, यह क्या ठाकुर की पूजा नहीं है? केवल एक चित्र के सामने जलती हुई बत्ती घुमाना और झाँझ पीटना – क्या तुम सोचते हो कि इसी से भगवान की यथार्थ आराधना होती है?"

शुद्धानन्द की कर्म-कुशलता में स्वामीजी की गहन आस्था थी। कई बार अपने व्यक्ति पत्र आदि वे उन्हीं से लिखवाते। एक दिन इन्हीं शिष्य को स्वामीजी ने आदेश दिया – "देख, मठ की एक डायरी रखना और हर सप्ताह मठ की एक रिपोर्ट भेजना।" शुद्धानन्द ने आजीवन इस आदेश का अक्षरश: पालन किया था। उनके द्वारा लिखित दैनन्दिनी अब भी मठ में संरक्षित है। उससे मठ के क्रम-विकास का कुछ इतिहास और स्वामीजी के विषय में भी अनेक घटनाओं की जानकारी मिल सकती है।

१८९७ ई. की ६ मई को, जब स्वामीजी पश्चिमी तथा उत्तरी भारत की प्रचार-यात्रा पर गये, उस समय कुछ काल बाद शुद्धानन्द को भी उनका संगी होने का सौभाग्य मिला था। इस परिभ्रमण के दौरान करीब छह महीने तक अपने गुरुदेव के घनिष्ठ सान्निध्य में रहना शुद्धानन्द के जीवन का एक परम-मूल्यवान सुअवसर सिद्ध हुआ था। एक पत्र में उन्होंने लिखा है, "पंजाब तथा राजपुताना में भ्रमण के दौरान स्वामीजी मुझे शरीर की तरफ ध्यान देने, परन्तु साथ ही कष्ट-सहिष्णु होकर तपस्या आदि करने को भी खूब कहा करते थे।" इन दिनों शुद्धानन्द को श्रीरामकृष्ण संघ – उसका अतीत-वर्तमान तथा भविष्य, शास्त्रचर्चा और विश्व के विभिन्न समस्याओं के प्रसंग में स्वामीजी की अद्भुत चिन्तन-प्रणाली का जो प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ, वह नि:सन्देह परवर्ती काल में उनके संघ-संचालन के क्षेत्र में बड़ा उपयोगी तथा फलदायी सिद्ध हुआ था। सम्भवत: इस नवागत शिष्य की बहुमुखी प्रतिभा का विकास करके उसे संघ के एक भावी कर्णधार के रूप में प्रशिक्षित करने के लिये ही स्वामीजी उसे साथ ले गये थे। शिष्य की श्रद्धा, मेधा, शास्त्रानुराग तथा वेदान्त-प्रीति ने स्वाभाविक रूप से ही आचार्य की प्रसन्नता अर्जित की थी। स्वामीजी ने एक बार शुद्धानन्द को स्नेहपूर्वक आशीर्वाद देते हुए कहा था, "तू विद्वान् होगा।" स्वामी शुद्धानन्द के परवर्ती जीवन में यह आशीर्वाद अक्षरश: प्रतिफलित हुआ था – गुरुकृपा से उन्होंने यथार्थ रूप से तत्त्व का साक्षात्कार किया था।

स्वामीजी के साथ इस भ्रमण की संक्षिप्त गाथा शुद्धानन्द के अपने ही शब्दों में इस प्रकार है – "१८९७ ई. के अन्तिम भाग में जब मैं आलमबाजार मठ में था, तभी स्वामीजी के बुलावे पर मैं तथा स्वामी विज्ञानानन्द (उन दिनों ब्रह्मचारी हरिप्रसन्न) पश्चिमी भारत गये थे। उन दिनों स्वामीजी विभिन्न स्थानों का भ्रमण कर रहे थे, अत: किस स्थान पर उनसे मिलना होगा, यह बात हमें ज्ञात न थी। स्वामीजी के निर्देशानुसार पहले हम लोग अम्बाला जाकर कुछ दिन वहीं ठहरे। इसके बाद स्वामीजी के एक गुरुभाई (स्वामी निरंजनानन्द) स्वामी विज्ञानानन्द को पर्वतीय अंचल में एक भूमि चुनने के लिये देहरादून ले गये। मैं कुछ दिन अम्बाला में ही रह गया। बाद में सूचना मिलने पर मैं स्वामीजी से मिलने लाहौर गया। परन्तु स्वामीजी कब लाहौर पहुँचेंगे, इसकी मुझे ठीक जानकारी नहीं थी। अत: स्टेशन पर प्रतीक्षा न करके मैं पत्र पर लिखे हुए पते पर चला गया। बाद में पता चला कि मेरे लाहौर स्टेशन पर पहुँचने के लगभग एक घण्टे बाद ही स्वामीजी वहाँ पहुँचे थे और लाहौर की सनातनी तथा आर्यसमाजी जनता ने उनके विशेष स्वागत का आयोजन किया था। इधर स्वामीजी ने सोचा था कि मैं उनसे स्टेशन पर ही मिलूँगा। परन्तु मुझे वहाँ न पाकर स्वागत-सत्कार के इतने सब शोरगुल के बीच भी उन्होंने मेरा समाचार लेने के लिये एक प्री-पेड टेलीग्राम अम्बाला भेजा। वैसे रात को मेरी स्वामीजी के साथ भेंट हो गई और स्वामीजी की अपने प्रति अहैतुकी प्रीति देखकर मैं विशेष रूप से मुग्ध हुआ। लाहौर में स्वामीजी के जो व्याख्यान आदि हुए, उनके विषय में तुमने विस्तारपूर्वक 'भारतीय व्याख्यान' पुस्तक में पढ़ा होगा। अत: उस विषय में विशेष रूप से लिखना निरर्थक होगा।

"संक्षेप में केवल दो-एक बातें लिखता हूँ। 'ग्रेट इंडियन सर्कस' के मालिक उस समय वहाँ पर अपना सर्कस लगाये हुए थे। वे अपने बचपन में स्वामीजी के साथ अखाड़े में कुश्ती लड़ा करते थे। काफी काल बाद स्वामीजी को ऐसी अवस्था में देखकर वे इतने विह्वल हो गये कि वे यही निश्चित नहीं कर पा रहे थे कि अपने बाल्यबन्धु को किस सम्बोधन से पुकारें। तब स्वामीजी ने उन्हें पूर्वपरिचित के समान सम्बोधित करके उनका संकोच दूर कर दिया था।

"वहाँ से हम लोग देहरादून गये। वहाँ स्वामीजी की तबीयत उतनी अच्छी न थी, तथापि वे सर्वदा हम लोगों[९] को वेदान्त आदि पढ़ाते और कहते कि 'मेरी अब भी इच्छा होती है कि संन्यासी के लिये उपयुक्त माधुकरी वृत्ति के द्वारा जीवन निर्वाह करूँ, परन्तु क्या करूँ, शरीर को वह सहन नहीं होगा।' अस्तु। वहाँ से लौटते समय उन्होंने हममें से कई लोगों को पैदल ही सहारनपुर आने के लिये उत्साहित किया था। इन दिनों उन्होंने हमें संन्यास-धर्म पर अनेक उपदेश दिये थे। यहाँ (देहरादून) उसी अंचल का एक (कश्मीरी) लड़का सामान्य वेतन पर हमारा बर्तन आदि माँजने का कार्य करता था। यह सुनकर कि वह क्षत्रिय जाति का है, स्वामीजी उसे क्षत्रियोचित शिक्षा दिलाने की आशा में राजपुताना के खेतड़ी तक ले गये थे और उसका उपनयन करके उसकी शिक्षा की व्यवस्था की थी। परन्तु बालक के दुर्भाग्यवश स्वामीजी की

९. उन दिनों गुप्त महाराज (सदानन्द), गुडविन, सेवियर दम्पति तथा स्वामीजी के अनुरागी एक आर्यसमाजी संन्यासी अच्युतानन्द भी उनके साथ थे। यहाँ स्मरणीय है कि स्वामी निरंजनानन्द तथा विज्ञानानन्दजी पहले से ही देहरादून में प्रतीक्षा कर रहे थे।

वह शुभ इच्छा फलीभूत नहीं हो सकी।

"सहारनपुर से दिल्ली होते हुए, राजपुताना के अलवर तथा जयपुर में कुछ दिन रहने के बाद वहाँ से हम लोग स्वामीजी के शिष्य खेतड़ी-नरेश के राज्य में गये। इन सब स्थानों में स्वामीजी हम लोगों को निरामिष भोजन के लिये खूब उत्साहित करते थे। बीच-बीच में कहते, 'बारह वर्ष निरामिष भोजन कर पाने से अपनी साधना में सिद्धि मिल जाती है।' दिल्ली में स्वामीजी अपने पूर्वपरिचित धनी व्यक्ति के घर न जाकर एक सामान्य अवस्था के गृहस्थ के घर में ठहरे थे। अलवर में भी वैसा ही हुआ। इन सब स्थानों में स्वामीजी हम लोगों को घुड़सवारी आदि की शिक्षा देने में विशेष उत्साह दिखाते थे। कुल मिलाकर स्वामीजी ऐसा प्रयास करते, जिससे उनके भक्त या शिष्यगण आध्यात्मिक, मानसिक, शारीरिक – सभी प्रकार की शिक्षा पाकर सर्वांग-सुन्दर मनुष्य हो सकें। तुम्हारा विशेष आग्रह देखकर, मैंने तुम्हें संक्षेप में स्वामीजी के साथ अपनी पश्चिमी भारत के भ्रमण की कुछ बातें लिखीं। पत्र में इसे विस्तारपूर्वक लिखना सम्भव नहीं है। ..."[१०]

पहले ही कहा जा चुका है कि संन्यास के पूर्व ही शुद्धानन्द ने अल्मोड़ा में स्वामी निरंजनानन्द की सहायता से काफी दिन ध्यान-भजन तथा तपस्या आदि में बिताये थे। इन दिनों का स्मरण करते हुए परवर्ती काल में उन्होंने एक संन्यासी को एक पत्र में लिखा था, "उन दिनों मेरी उनके (निरंजनानन्द जी) साथ बहुत-सी बातें हुआ करती थीं। ... और वे मुझे तपस्या में खूब उत्साहित किया करते थे। उनकी इच्छा थी कि कालीकृष्ण महाराज (विरजानन्द जी) को मठ से लाकर, हम तीनों एक साथ रहेंगे और कहीं एकान्त में साधन-भजन करेंगे। उन्होंने मुझे कालीकृष्ण महाराज को लिखने के लिये कहा था और मैंने लिखा भी था, परन्तु उनके लिये तत्काल आ पाना सम्भव नहीं हो सका था। मुझे स्मरण है कि उन्हीं दिनों उन्होंने (निरंजनानन्द जी) स्वयं को ठाकुर द्वारा कथित ईश्वरकोटि लोगों में एक बताया था। अस्तु, १८९८ ई. के सम्भवत: सितम्बर में मैं उनके साथ वहाँ से उतरकर वाराणसी आ गया।" उनके द्वारा लिखित इस सुदीर्घ पत्र से यह भी ज्ञात होता है कि उतरते समय अल्मोड़ा से काठगोदाम का ३७ (अंग्रेजी में ५७ मील लिखा है, शायद सड़क मार्ग से हो) मील का मार्ग वे पैदल ही चलकर आये थे। वैसे काठगोदाम से दोनों ने ट्रेन पकड़ ली थी। उस समय मदर सेवियर ने दोनों के राहखर्च के लिये ३५ रुपये दिये थे और लाला बद्री साह ने केवल निरंजनानन्द जी के लिये काठगोदाम तक एक घोड़े की व्यवस्था कर दी थी। मार्ग में शुद्धानन्दजी का स्वास्थ्य खूब बिगड़ गया था – पेट के रोग के कारण उन्हें काफी कष्ट भोगना पड़ा था।

वाराणसी आकर वंशीदत्त के उद्यान में शुद्धानन्द फिर निरंजन महाराज के सान्निध्य में कठोर तपस्या में डूब गये। उद्यान के एक जीर्ण दुमंजले भवन में दोनों का आसन हुआ – क्षेत्र-भिक्षा से दोनों की जीवन-यात्रा का निर्वाह होता। इसका स्मरण करते हुए शुद्धानन्द ने बाद में कहा था, "मैंने निरंजन महाराज के साथ एक ही भवन में ढाई महीने निवास किया था। निरंजन महाराज नीचे के कमरे में रहते – दुमंजले के कमरे में मैं रहता। पहले दिन सरकार महाशय (उद्यान के प्रबन्धक) ने हम लोगों को खिलाया – अगले दिन से निरंजन महाराज और मैं प्रतिदिन वहाँ से एक मील दूर क्षेत्र में जाने लगे। पहले वहाँ अद्वैतानन्द जी रहते थे – उनका माधुकरी का भिक्षापात्र वहीं था। निरंजन महाराज ने मेरे तथा अपने लिये दो वैसे ही पात्रों और रोटी या भात लाने के लिये झोली की व्यवस्था की। एक-एक पैसे में दो मिट्टी की थालियाँ भी खरीदी गयीं। हम लोग उन्हीं में खाते और फिर धोकर रख देते। माधुकरी क्षेत्र से अधिकांशत: रोटियाँ और अरहर की दाल मिलती। उन दिनों वहाँ पाँच-छह क्षेत्र थे – किसी-किसी क्षेत्र में रोटी-दाल के ऊपर एक मुट्ठी भात भी मिल जाता। परन्तु सब्जी शायद ही कभी मिलती। हम लोग नीबू की व्यवस्था करके उसे नमक में डुबाकर रख देते और थोड़ा-थोड़ा उसी को मिलाकर खाते।"

स्मृतिकथा से युक्त उपरोक्त पत्र से यह भी ज्ञात होता है कि इस कठोर तपस्या के दिनों में शुद्धानन्द का जीवन-स्रोत खूब आनन्द में प्रवाहित हो रहा था – परन्तु कुछ दिन बीतते-न-बीतते उनका स्वास्थ्य काफी बिगड़ गया और उनके इस सहज तपस्या के स्रोत में बाधा उत्पन्न हो गयी। लगातार बुखार तथा पित्त की उल्टी से शुद्धानन्द का शरीर खूब दुर्बल हो गया। इस पर निरंजनानन्द जी उनके विषय में बड़े चिन्तित हो उठे और उन्होंने अपने परिचित होम्योपैथ चिकित्सक प्रियलाल दास के द्वारा उनकी चिकित्सा की व्यवस्था करायी। पर केवल चिकित्सा से क्या होता? उपयुक्त पथ्य के अभाव में चिकित्सा से कोई विशेष फल नहीं हो रहा था; घूम-फिरकर बारम्बार बुखार तथा उल्टी हो रही थी। निरंजन महाराज को भी बुखार आ जाने से वे स्वयं भी विशेष स्वस्थ नहीं थे। उस समय प्रमदादास मित्र ने निरंजन महाराज के पथ्य हेतु एक रुपया दिया था। समय तथा उद्देश्य की दृष्टि से प्रमदा बाबू द्वारा प्रदत्त उस एक रुपये का मूल्य उन दिनों असीम था। इस प्रसंग में स्मरणीय है कि वाराणसी में ही स्वामीजी के एक अन्य शिष्य चारुबाबू के साथ उनकी घनिष्ठता का सूत्रपात हुआ, जो परवर्ती काल में स्वामी शुभानन्द के नाम से विख्यात हुए थे। चारुबाबू ने उस समय

१०. बेलूड़ मठ से १४ जनवरी, १९३८ को लिखित एक अप्रकाशित पत्र से उद्धृत।

शुद्धानन्द के लिये अपने खर्च पर पथ्य आदि बनवाकर अपने पीड़ित गुरुभाई की सेवा की थी और इससे निरंजनानन्द जी के चिन्ता का भार काफी कम हो गया था। परन्तु चारुचन्द्र तब तक स्वामीजी के प्रत्यक्ष सम्पर्क में नहीं आये थे – वह और भी काफी काल बाद की घटना है। परन्तु स्वामी निरंजनानन्द के पवित्र सान्निध्य तथा प्रभाव और शुद्धानन्द के तपोमय जीवन-स्पर्श ने चारुचन्द्र को उनके परवर्ती जीवन के लिये तैयार होने में काफी सहायता की थी। केवल चारुचन्द्र ही नहीं, वाराणसी में अपने ही भाव के एक अन्य व्यक्ति केदारनाथ मौलिक के साथ भी शुद्धानन्द का सौहार्द हुआ। ये केदारनाथ ही परवर्ती काल में स्वामीजी के विशेष शिष्य स्वामी अचलानन्द या 'केदार बाबा' हुए।

सुप्रसिद्ध विद्वान् संन्यासी स्वामी भास्करानन्द तब भी काशीधाम में जीवित थे। शुद्धानन्द को उनके साथ परिचय तथा वार्तालाप का सुयोग मिला था। यहाँ स्मरण करा देना होगा कि अनेक वर्षों पूर्व एक बार इन्हीं भास्करानन्द के साथ स्वामीजी की भेंट हुई थी, पर उस समय उन्होंने स्वामीजी को 'बालक' समझकर समुचित मान नहीं दिया था। दीर्घ काल बाद काशीधाम में शुद्धानन्द से भेंट होने पर और उन्हें स्वामीजी का प्रिय शिष्य जानकर उन्होंने उनका खूब आदर-सत्कार किया। शुद्धानन्द के दोनों हाथ पकड़कर भास्करानन्द जी ने उनसे सविनय अनुरोध किया कि एक बार वे उनकी स्वामीजी के साथ मिलने की व्यवस्था कर दें। निरंजनानन्द जी को भी स्वामीजी का गुरुभ्राता जानकर भास्करानन्द जी ने एक दिन उन्हें सम्मानपूर्वक भोजन कराया और उनसे भी स्वामीजी के साथ एक बार भेंट करवाने का आग्रह किया। निरंजनानन्द जी ने इस विषय में स्वामीजी को एक पत्र लिखा था, परन्तु उनका परस्पर भेंट हो पाना सम्भव नहीं हो सका था। बाद में स्वामीजी ने बेलूड़ मठ में शुद्धानन्द के मुख से भास्करानन्द के इस आग्रह की बात विशेष रूप से सुनकर, खूब विनयपूर्वक उन्हें संस्कृत में एक पत्र लिखा था।

स्वामी सारदानन्द अमेरिका से लौटने के बाद उन दिनों वाराणसी में आये हुए थे। वे शुद्धानन्द का भग्न स्वास्थ्य देखकर बड़े दुखी हुए। उन्होंने स्वयं ही शुद्धानन्द को समझा-बुझाकर तपस्या से लौटाकर कर मठ ले जाने का प्रयास किया, परन्तु उन्हें तपस्या से विरत नहीं कर सके। शुद्धानन्द की उस काल की तपस्या इतनी कठोर थी कि वे मच्छरों का प्रचण्ड आक्रमण भी चुपचाप सहन कर लेते थे। उनके मुख तथा शरीर पर मच्छरों के काटने का चिह्न देखकर सारदानन्द जी ने बलपूर्वक चारुबाबू को तीन रुपये देकर उनके लिये एक मच्छरदानी मँगवा दी थी।

पर शुद्धानन्द का स्वास्थ्य क्रमश: बिगड़ता जा रहा था – लगातार बुखार होते रहने के कारण आखिरकार उन्हें मठ में लौट जाना पड़ा था। मठ उन दिनों नीलाम्बर मुखर्जी के उद्यान में था। निरंजनानन्द जी ने मदर सेवियर को लिखकर शुद्धानन्द के मार्गव्यय तथा उनके लिये एक जोड़ी जूते खरीदने के खर्च की भी व्यवस्था कर दी थी। शुद्धानन्द मठ लौट गये, परन्तु निरंजनानन्द जी वाराणसी में ही रह गये।

शुद्धानन्द ने अपने साधक-जीवन पर निरंजनानन्द जी के प्रभाव तथा अवदान के बारे में, परवर्ती काल में स्वयं ही बारम्बार बताया था। स्वामी रामकृष्णानन्द (शशी महाराज) आदि श्रीरामकृष्ण के शिष्यों का भी उनके जीवन पर काफी प्रभाव पड़ा था। अपने साधु-जीवन की शैशवावस्था में इन ज्वलन्त होमशिखा-सम महापुरुषों का संरक्षण – उनके लालन-पालन तथा देखरेख ने ही शुद्धानन्द को क्रमश: स्वामीजी के एक सुयोग्य भारवाहक में परिणत कर दिया था। शुद्धानन्द की लेखनी से उद्भूत एक पुरानी स्मृति यहाँ उद्धृत करने से हमारे पूर्वोक्त कथन का गूढ़ मर्म सहज ही समझ में आ जायेगा। शुद्धानन्द के एक अप्रकाशित पत्र में लिखा है, "बुखार दूर हो जाने के बाद मुझे खूब भूख लगती – मेरी आठ रोटियाँ खाने की इच्छा होती। परन्तु वे (निरंजन महाराज) कहते, 'तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, चार से अधिक नहीं खा सकोगे।' मैं कहता – मैं तो हमेशा से ही आठ रोटियाँ खाता आया हूँ। एक दिन इसी प्रकार हठ करने पर उन्होंने कहा था, 'मैं शशी (रामकृष्णानन्द जी) को मद्रास पत्र लिख रहा हूँ, उसमें तुम्हारी बात भी लिख देता हूँ कि सुधीर आठ रोटियाँ खाने के लिये जिद कर रहा है'।" यह मानो किसी अबोध बालक के प्रति उसकी स्नेहमयी माँ का भय-प्रदर्शन था। व्याख्या करके इस अपूर्व घटना के माधुर्य तथा अमूल्य भाव का लाघव उचित नहीं होगा। विशाल रामकृष्ण-संघ के रहस्य के खोजी को पहले ही यह जान लेना होगा कि यह श्रद्धा तथा प्रेम ही नींव पर खड़ा है।

स्वामीजी द्वारा परिकल्पित रामकृष्ण-संघ का बँगला मुखपत्र 'उद्‌बोधन' स्वामी त्रिगुणातीतानन्द के सम्पादकत्व में १४ जनवरी १८९९ ई. के दिन पहली बार प्रकाशित हुआ। इसका कार्यालय उन दिनों श्यामबाजार (कलकत्ता) के १४ नं. रामचन्द्र मैत्र की गली में गिरीन्द्र मोहन बसाक के मकान में स्थापित हुआ था। 'उद्‌बोधन' उस समय एक पाक्षिक पत्रिका थी।[११] स्वामीजी की इच्छानुसार शुद्धानन्द इस 'उद्‌बोधन' के संचालन में त्रिगुणातीतानन्द जी के सहकारी – केवल सहकारी ही क्यों, मानो उनके दाहिने हाथ हो गये थे। स्वामीजी के 'राजयोग' का उनके द्वारा किया हुआ बँगला अनुवाद उसी समय से उद्‌बोधन में प्रकाशित होने लगा।

❖ (क्रमश:) ❖

११. आठ वर्ष बाद 'उद्‌बोधन' एक मासिक पत्रिका में परिणत हुआ।

कर्मयोग – एक चिन्तन (२८)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

भगवान श्रीरामकृष्णदेव अंतिम रोगशय्या में हैं। उनके गले में कैंसर हो गया है। घाव बाहर आ गया है। उसकी ड्रेसिंग करनी पड़ती है। उसमें खून, पीब, दवाएँ सब रहती हैं। उस जमाने में गृहस्थ भक्तों में और त्यागी भक्तों में यह अफवाह फैल गयी कि यह छूत का रोग है। जो उनकी सेवा करेगा, जो पास जायेगा, उसको भी यह रोग हो सकता है। उन लोगों के मन में दुविधा आ गयी कि अरे, कहीं हममें ये छूत का रोग न लग जाय। नरेन्द्र ने भी सुना कि ऐसी अफवाह है। नरेन्द्र बीच-बीच में अपने घर भी जाते थे। नरेन्द्र घर से लौटकर आये। उसके कुछ देर पहले ठाकुर के गले की ड्रेसिंग हुई थी। एक ग्लास में खून, पीब दवाएँ आदि ठाकुर की शय्या के पास ही एक पात्र में तब तक वहीं पड़ी हुयी थीं। नरेन्द्र ने आकर देखा और ग्लास उठाकर वह सब कुछ पी गये। यह केवल विश्वास से नहीं परम श्रद्धा से ही संभव है। इसलिये श्रद्धा में सम्पूर्ण समर्पण होता है। वहाँ कहीं भी किन्तु-परन्तु का प्रश्न नहीं होता। हम जीवन में जिन आदर्शों के लिए जीना चाहते हैं, उसके प्रति ऐसी श्रद्धा होनी चाहिए।

हम गीता सुनते हैं, उन उपदेशों के प्रति हमारी भी ऐसी ही श्रद्धा होनी चाहिए। हम श्रीरामकृष्ण के उपदेश पढ़ते हैं, नरसी मेहता के भजन सुनते हैं, हमारी उन पर श्रद्धा होनी चाहिये। किसी भी संत की वाणी सुनें या ग्रंथ पढ़ें, यह श्रद्धा परम आवश्यक है। यह श्रद्धा धीरे-धीरे प्रार्थना से उत्पन्न होती है। यह किसी को सीखाया नहीं जा सकता। व्यक्ति जब भीतर से व्याकुल हो जाता है तथा उसे अन्य उपाय नहीं दिखता है, तब आशा की किरण जहाँ से दिखती है, गुरू से या परमात्मा से, उस समय उसके मन में श्रद्धा जागती है। यह श्रद्धा भगवत् कृपा से वर्धित होती है। हमारे जीवन में ऐसी श्रद्धा होनी चाहिये।

भगवान आगे के श्लोक में और अभी भी कह रहे हैं, 'अनुसूयन्तः' दूसरों के दोष मत देखना। यह बहुत महत्वपूर्ण बात है, इसलिए भगवान यहाँ कह रहे हैं। गीता के उपदेशों में भी हमें दोष नहीं देखना चाहिए। कुछ लोग गीता की निन्दा करते हैं कि भगवान ने युद्ध करने को कहा इत्यादि। युद्ध जब समाप्त हुआ, पांडव सब मिलने गये, तब भगवान भी साथ में थे, तो गांधारी कहती हैं, 'केशव, यदि तुम चाहते तो यह युद्ध रूक सकता था। तुमने चेष्टा नहीं की। यद्यपि गान्धारी जानती थीं कि भगवान ने अंतिम क्षणों तक चेष्टा की थी। किन्तु गान्धारी के दुष्ट पुत्रों के कारण ही युद्ध नहीं रूका। दुर्योधन और उसके सभी भाई दुष्ट थे। किन्तु गांधारी को लगा कि कृष्ण अगर चाहते तो युद्ध रूक जाता और इतने लोग नहीं मरते। गान्धारी ने भगवान को शाप दिया। सारी कथा आप जानते हैं। गांधारी बोलीं, 'आज मुझे जो शोक हुआ है, दुःख हुआ है, तुम्हारे यदुवंश का भी ३६ वर्षो बाद विनाश होगा और यदुकुल की भी ऐसी ही दुर्गति होगी। भगवान ने सिर झुकाकर उनका शाप स्वीकार किया। भगवान ने कहा – हे माते, आपका श्राप मुझे शिरोधार्य है। आप कृष्ण के देश में रहने वाले लोग हैं। प्रभास में क्या हुआ, आप सब जानते हैं। यह श्रद्धा का दूसरा अंग है। भगवान ने माता गान्धारी की वाणी पर अविश्वास नहीं किया। भगवान ने उस सती के व्रत की रक्षा के लिये स्वयं वह शाप स्वीकार कर लिया। उनकी श्रद्धा थी, अविश्वास नहीं था। गांधारी में उन्होंने कुछ दोष नहीं देखा। यह हुआ 'अनुसूयन्तः श्रद्धावन्तः। इस प्रकार श्रद्धा अगर हम रखें, तो नित्यमनुतिष्ठन्ति, मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः' – जो लोग श्रद्धापूर्वक भगवान के उपदेश का पालन करते हैं, वे लोग भी कर्म के बंधन से मुक्त हो जायेंगे।

अब भगवान ३२ वें श्लोक में कहते हैं –

ये त्वेतदभ्यसूयन्तोनानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः (३-३२)

– जो लोग दोष देखते हुये मेरे मत के अनुसार जीवन-यापन नहीं करते हैं, उन मूर्खों को सभी ज्ञानों में मोहित और नष्ट ही समझो।

एक प्रकार से यह भगवान का श्राप है कि यदि हम उनके उपदेशों का पालन नहीं करेंगे, तो उसका क्या परिणाम होगा। यदि हम दोषदर्शी होंगे, श्रद्धा नहीं रखेंगे तो क्या होगा? जो लोग भगवान को दोष देते हैं, दूसरों पर दोष देते हैं, या भगवान के मत के अनुसार नहीं चलेंगे या नहीं चलते हैं, उन मूर्खों के सभी ज्ञान मूर्खता से आवृत्त हो जाते हैं, उनकी बुद्धि नष्ट ही समझो।

यदि हम धार्मिक जीवन व्यतीत नहीं करेंगे, तो उसका यह दुष्परिणाम होगा। यह हमेशा कुछ बुद्धिमान लोगों के लिए ही है। पहले भी मैंने आपसे कहा था कि ये अरबों लोगों के लिए नहीं हैं। जब भोग करते-करते थक जायेंगे, जीवन में जब दुःखों का पहाड़ टूट पड़ेगा, चाहे वे जिस

भी देश के या धर्म के क्यों न हों, तब उन्हें अपनी श्रद्धा के अनुसार भगवान की शरण में जाना पड़ेगा। यह थोड़ी कड़वी बात है, अच्छी नहीं लगती, परन्तु अंत में यही करना पड़ेगा। जब अन्त में यही करना पड़ेगा, तो क्यों न अभी से ही शुरू कर दें।

आगे भगवान कहते हैं – अभ्यसूयन्त: – जो लोग दोष दृष्टि रखते हैं और एक दूसरी शर्त है – न अनुतिष्ठन्ति मे मतम् - जो मेरे उपदेशों का अनुसरण नहीं करते, उन अचेतस: – मूर्ख, बेहोस, जिनकी चेतना जागृत नहीं हैं, ऐसे जो व्यक्ति हैं, उनकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। हम सोचते हैं कि हम बहुत विद्वान हैं, हमारी चेतना जागृत है। आप सबको स्मरण होगा कि भगवान श्रीरामकृष्ण देव जब काशीपुर के बगीचे में लीला-संवरण कर रहे थे, तभी कल्पतरू के दिन, १ जनवरी १८८६ को भक्त लोगों को क्या आशीर्वाद देते हैं – 'तुम चैतन्य हो जाओ'। क्या वहाँ सब लोग जड़ थे, मृत थे? एक-से-एक पंडित थे। गिरीष घोष और कई पंडित लोग थे। हम लोगों की भ्रांत धारणा यह है कि हम संसार की दृष्टि से बुद्धिमान हैं, बहुत धन कमाते हैं, साल में लाखों रूपये कमाते हैं। आर्थिक मंदी में भी मैंने इतना फायदा किया, इतना रूपया कमाया, ऐसा हम समझते हैं। ये बात किसी व्यक्ति को मैं नहीं कह रहा हूँ, या किसी की निंदा नहीं कर रहा हूँ, किन्तु यह जागतिक सत्य का निरूपण है। यह सत्य है कि धन कमाने की कला में अतिनिपुण हैं और अपने को खूब बुद्धिमान समझते हैं – क्योंकि हम जिस ढंग से धन कमाते हैं, उसे कोई जान नहीं पाता है। यदि हम टैक्स चोरी करके, धन कमाने का ऐसा उपाय निकाल लें, जिससे हम किसी कानून की गिरफ्त में न आयें, तो हम अपने को बहुत बुद्धिमान समझते हैं। किसी मामले में घर खाली कराना चाहते हैं, कोई ऐसी युक्ति निकाल देंगे, कि विवश होकर किरायादार घर छोड़कर निकल जाय। हम अपने को बहुत बुद्धिमान समझते हैं। अनुचित सांसारिक सफलता देनी वाली बुद्धि दुष्ट-बुद्धि है। यह बात कड़वी है, किन्तु सच्चाई इसी में है। ऐसी बुद्धिवाला व्यक्ति अचेतस: है। तो बुद्धिमानी किसमें है? कौन-सा व्यक्ति सचेत हैं? सचेत वह व्यक्ति है, जो अपने जीवन-शक्ति और बुद्धि की सीमा को समझ लेता है।

एक उदाहरण देखें। मैं एक शहर में गया था। वहाँ के स्वामीजी ने बताया कि ये भक्त बहुत पुराने हैं, तुम्हें भी अच्छी तरह से पहचानते हैं, तो तुम कल सुबह उनके घर चाय पीने के लिए चले जाओ। उनके घर मैं गया। उस समय वे गृहस्थ ७५ वर्ष के थे और नया मकान बनवा रहे थे। बड़े अच्छे व्यक्ति थे। बुद्धिजीवी थे, बहुत पैसा कमाया था। वे नाश्ता करने के पहले मुझसे कहते हैं – महाराज इस शहर में मैं एक नया घर बनवा रहा हूँ, चलिये उसे देखकर आते हैं, तब नास्ता करते हैं। हम गये कई इंजिनियर लगाये थे। इसमें ये मसाला लगाया है, चार बेडरूम बनवाये हैं, और मजा यह है कि उनकी कोई संतान नहीं थी। उन्होंने एक दत्तक पुत्र लिया था। सब दिखाकर बोले कि इसको बनाने में मैंने ऐसी चीजें लगायी हैं कि इंजिनीयरों का कहना है कि यह मकान ५०० साल नहीं टूटेगा। फिर बोले, ५०० नहीं, ३०० साल तक तो रहेगा ही रहेगा। वे बहुत बुद्धिमान थे और जिस शहर में रहते थे, वहाँ से बम्बई बहुत पास था। वहाँ से इंजिनियर बुलवाये थे, सब सामान वहाँ से अच्छा लाया था। तो इतनी बुद्धि लगाकर इतना पैसा खर्च करके वे वह मकान बनवा रहे थे।

अब नाश्ता करने बैठे। मुझे तो उसमें कुछ लेना-देना नहीं है। वापस आया, तो स्वामीजी ने पूछा कि तुमको वहाँ कैसा लगा? मैंने सब बताया। उसके बाद मैं बेलूड़ मठ लौट गया। वे स्वामीजी भी एक सम्मेलन में वहाँ आये थे। उन्होंने बताया, तुम्हारे आने के बाद उनका गृहप्रवेश तो निश्चित था, किन्तु गृह प्रवेश के दो दिन पहले वे चल बसे। मृत्यु हो गयी।

अब आप सोचें कि किसमें बुद्धिमानी है? मकान तो ३०० साल चलेगा, किन्तु मैं कितने दिन जीने वाला हूँ, कितने दिन चलने वाला हूँ? ऐसा सोचकर मुक्ति पाने का प्रयत्न करें, वह व्यक्ति सचेत है। व्यक्ति को हमेशा मृत्यु का स्मरण रखना चाहिये। कई लोग बोलते हैं, हाँ मृत्यु के बाद देखा जायेगा। मृत्यु के बाद हमको कुछ देखने को नहीं मिलेगा, दूसरे लोग ही हमको देखेंगे, हम तो चल बसेंगे। तो सचेत वही व्यक्ति है, जिसके पास परिणामदर्शी बुद्धि है, जो भविष्य को देखता है, विचार करता है कि आखिर इसका क्या होगा? तो बुद्धिमानी इसमें है कि जो कुछ उपलब्ध है उसका सदुपयोग कर लें। ऐसा नहीं कि आप बंगला न बनवायें, पैसा न कमायें। ये पैसा, घर आपके पुत्र-पौत्र, सम्बन्धी इसका उपयोग करेंगे। इसमें कोई दोष नहीं है, किन्तु ये समझकर रखिए कि हमारे घर की या आश्रम की इस कुर्सी की आयु मुझसे अधिक है। अगर यह कुर्सी हिफाजत से रखी जाये तो ५०० सौ साल चलेगी, किन्तु हम नहीं रहेंगे, तो बुद्धिमानी इसी में है कि जहाँ जाना निश्चित है, उसकी तैयारी करें। घर मकान बनवाते समय मन को भी बनवायें। यह आवश्यक है। इसलिये भगवान कहते हैं कि वह मूर्ख है, जिसकी बुद्धि भ्रष्ट है तथा संसार में आसक्त है।

❖ **(क्रमश:)** ❖
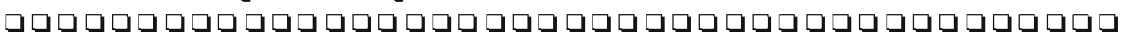
विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

स्वानुभूति प्रकरण (जारी) –

किं हेयं किमुपादेयं किमन्यत्किं विलक्षणम् ।
अखण्डानन्दपीयूषपूर्णे ब्रह्ममहार्णवे ।।४८४।।

अन्वय – अखण्ड-आनन्द पीयूष-पूर्णे ब्रह्म-महा-अर्णवे हेयं किं, उपादेयं किं, अन्यत् किं, विलक्षणं किम्?

अर्थ – अखण्ड आनन्दरूपी अमृत से परिपूर्ण ब्रह्म महासागर में ग्रहणीय क्या हो सकता है, त्याज्य क्या हो सकता है, (स्वयं से) पृथक् क्या हो सकता है और (स्वयं से) भिन्न (विपरीत) क्या हो सकता है?

न किञ्चिदत्र पश्यामि न शृणोमि न वेद्म्यहम् ।
स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि विलक्षणः ।।४८५।।

अन्वय – अहम् अत्र किञ्चित् न पश्यामि, न शृणोमि, न वेद्मि । स्व-आत्मना एव सदानन्द-रूपेण विलक्षणः अस्मि ।

अर्थ – मैं यहाँ (ब्रह्म के साथ एकात्म-बोध के समुद्र में) न कुछ देख रहा हूँ, न कुछ सुन रहा हूँ, न कुछ जान रहा हूँ। मैं सब कुछ से विलक्षण (भिन्न) सदानन्द रूप में अपने स्वरूप (आत्मा) में स्थित हूँ।

नमो नमस्ते गुरवे महात्मने
विमुक्तसङ्गाय सदुत्तमाय ।
नित्याद्वयानन्दरसस्वरूपिणे
भूम्ने सदाऽपारदयाम्बुधाम्ने ।।४८६।।

अन्वय – अपार-दया-अम्बु-धाम्ने, भूम्ने, नित्य-अद्वय-आनन्द-रस-स्वरूपिणे, विमुक्त-संगाय, सद्-उत्तमाय, महात्मने गुरवे ते नमः नमः ।

अर्थ – नित्य अपार दया के सागर, व्यापक, नित्य-अद्वय-आनन्द के रस-स्वरूप, आसक्तियों से मुक्त, सत्पुरुषों में श्रेष्ठ, महात्मा श्रीगुरुदेव को मेरा बारम्बार प्रणाम है।

यत्कटाक्षशशिसान्द्रचन्द्रिका-
पातधूतभवतापजश्रमः ।
प्राप्तवानहमखण्डवैभवा-
नन्दमात्मपदमक्षयं क्षणात् ।।४८७।।

अन्वय – यत्-कटाक्ष-शशि-सान्द्र-चन्द्रिका-पात-धूत-भव-तापज-श्रमः अहं अखण्ड-वैभव-आनन्द अक्षयं आत्मपदं क्षणात् प्राप्तवान् ।

अर्थ – जिनकी चन्द्रमा की घनीभूत चाँदनी के समान निर्मल कृपा-कटाक्ष पड़ने से, संसार ताप से उत्पन्न मेरे क्लेश धुलकर नष्ट हो गये और क्षण मात्र में ही मुझे अखण्ड आनन्द रूप ऐश्वर्यमय अक्षय आत्म-स्वरूप की प्राप्ति हुई, उन श्रीगुरुदेव को मेरा बारम्बार प्रणाम है।

धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं विमुक्तोऽहं भवग्रहात् ।
नित्यानन्दस्वरूपोऽहं पूर्णोऽहं त्वदनुग्रहात् ।।४८८।।

अन्वय – तद्-अनुग्रहात् अहं धन्यः, अहं कृतकृत्यः, अहं भवग्रहात् विमुक्तः अहं नित्य-आनन्द-स्वरूपः, अहं पूर्णः ।

अर्थ – हे गुरुदेव, आपकी कृपा से मैं धन्य हो गया हूँ, कृतकृत्य (सभी कर्तव्यों से मुक्त) हो गया हूँ, संसार-बन्धन (आवागमन) से मुक्त हो गया हूँ; मैं नित्य आनन्द-स्वरूप हो गया हूँ, मैं पूर्ण हो गया हूँ।

असङ्गोऽहमनङ्गोऽहमलिङ्गोऽहमभङ्गुरः ।
प्रशान्तोऽहमनन्तोऽहममलोऽहं चिरन्तनः।।४८९।।

अन्वय – अहं असङ्गः, अहं अनङ्गः, अहं अलिङ्गः अभङ्गुरः, अहं प्रशान्तः, अहं अनन्तः, अहं अमलः चिरन्तनः ।

अर्थ – मैं असंग (अनासक्त) हूँ, मैं अनंग (स्थूल देह से रहित) हूँ, मैं अलिंग (सूक्ष्म शरीर से रहित) हूँ, मैं अभंगुर (नित्य) हूँ। मैं प्रशान्त, अनन्त, निर्मल और चिरन्तन हूँ।

अकर्ताहमभोक्ताहमविकारोऽहमक्रियः ।
शुद्धबोधस्वरूपोऽहं केवलोऽहं सदाशिवः ।।४९०।।

अन्वय – अहं अकर्ता, अहं अभोक्ता, अहं अविकारः अक्रियः, अहं शुद्धबोधस्वरूपः, अहं केवलः सदाशिवः ।

अर्थ – मैं अकर्ता (कर्तृत्व-बोध-रहित) हूँ, मैं अभोक्ता (भोक्तृत्व-बोध-रहित) हूँ, मैं अविकारी (अपरिवर्तनशील) हूँ, मैं अक्रिय (क्रिया के अतीत) हूँ, मैं शुद्ध ज्ञान-स्वरूप हूँ, मैं निर्गुण और चिर कल्याण-स्वरूप हूँ।

द्रष्टुः श्रोतुर्वक्तुः कर्तुर्भोक्तुर्विभिन्न एवाहम् ।
नित्यनिरन्तरनिष्क्रियनिःसीमासङ्गपूर्णबोधात्मा ।।४९१।।

अन्वय – अहम् द्रष्टुः श्रोतुः वक्तुः कर्तुः भोक्तुः विभिन्नः एव, नित्य-निरन्तर-निष्क्रिय-निःसीम-असङ्ग-पूर्ण-बोधात्मा ।

अर्थ – मैं द्रष्टा, श्रोता, वक्ता, कर्ता, भोक्ता से पृथक हूँ। मैं नित्य, निरन्तर, निष्क्रिय, असीम, असंग, पूर्ण, बोध-स्वरूप आत्मा हूँ।

नाहमिदं नाहमदोऽप्युभयोरवभासकं परं शुद्धम् ।
बाह्याभ्यन्तरशून्यं पूर्णं ब्रह्माद्वितीयमेवाहम् ।।४९२।।

अन्वय – अहं न इदम्, अहं न अदः अपि । (अपितु) अहं उभयोः अवभासकं परं शुद्धं बाह्य-अभ्यन्तर-शून्यं पूर्णं अद्वितीयं ब्रह्म एव ।

अर्थ – मैं 'यह' (प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय) नहीं हूँ, मैं 'वह' (परोक्ष ज्ञान का विषय) भी नहीं हूँ। मैं (प्रत्यक्ष तथा परोक्ष) दोनों का ही प्रकाशक हूँ। मैं परम शुद्ध हूँ। मैं बाह्य-अभ्यन्तर से रहित पूर्ण, अद्वितीय ब्रह्म ही हूँ। ❖ (क्रमशः) ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२६४. सीमा का न करो उल्लंघन

एक बार राजा भोज के दरबार में एक चोर को पकड़कर लाया गया। उसे साधुवेष में देखकर राजा ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा, "समझ में नहीं आता कि साधु होकर भी तुमने चोरी कैसे की ! तुम्हारा इतना अध:पतन कैसे हुआ ! साधु के निरुत्तर रह जाने पर कालिदास बोले, "महाराज, जब मनुष्य मर्यादा का उल्लंघन करता है तो उसका अध:पतन होने में देरी नहीं लगती।" कालिदास से असहमति दर्शाते हुए राजा ने कहा, "मैं नहीं मानता कि मर्यादा के उल्लंघन से किसी का अध:पतन होता है।" कालिदास बोले, "महाराज, शीघ्र ही आपको इसका अनुभव हो जाएगा।"

दूसरे दिन दरबार में एक यति आया और उसने राजाभोज से आर्थिक सहायता की प्रार्थना की। भोज ने कहा, "पहले यह बताओ कि घर-गृहस्थी का त्याग करने के बाद तुम्हें धन की जरूरत क्यों महसूस हुई?" राजा तथा यति का संवाद एक संस्कृत श्लोक में इस प्रकार निबद्ध है –

भिक्षो कन्था श्लथा ते नहि शफरि वधे जालमश्नासि मत्सान् ।
ते वै मद्योपदंशा: पिबसि मधु समं वेश्यया यासि वेश्याम् ।
दत्त्वाङ्घ्रि मूर्ध्न्यरीणां तव किमु रिपवो भित्ति-भेत्तास्मि येषाम्।
चौरोऽसि द्यूतहेतोस्त्वयि सकलमिदं नास्ति भ्रष्टे विचार: ।।

संवाद रूप में इसका भावार्थ इस प्रकार है –

राजा – हे यति, तुम्हारी तो गुदड़ी फटी हुई है।

यति – महाराज, यह गुदड़ी नहीं, मछली पकड़ने का जाल है।

राजा – यानी तुम साधु होकर मछली भी खाते हो?

यति – बात यह है कि मद्यपान करते समय तो मत्स्य-भक्षण करना ही पड़ता है।

राजा – किन्तु साधु को तो मत्स्य खाने से परहेज करना चाहिए।

यति – जब वेश्याओं के यहाँ जाता हूँ, तो साथ में मदिरा ले जाता हूँ।

राजा – तो फिर तुम वेश्या-गमन भी करते हो।

यति – कोई मुझसे शत्रुता करे तो मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता। मैं उसे पीट-पीटकर नीचे गिरा देता हूँ। फिर उसके शरीर को रौंदकर वेश्या के यहाँ जाता हूँ।

राजा – यानी साधु होते हुए राजा के समान शत्रु बनाते हो।

यति – जुआ खेलते समय पैसे की जरूरत पड़ने पर मैं चोरी करता हूँ। चोरों की संगति से शत्रु हो जाते हैं।

राजा – तब तो तुम दुर्गुणों के आगार हो।

यति - महाराज, जिसने एक बार मर्यादा भंग की, उसका पतन होने में देर नहीं लगती।

राजा भोज जान गए कि यह साधु वस्तुत: कालिदास ही हैं, जिन्होंने अपना कल का कथन सही सिद्ध करने के लिये यह वेष बनाया है। वे बोले, "मैं समझ गया कि एक बार मर्यादा का उल्लंघन करने पर व्यक्ति आदत के अधीन हो जाता है और क्रमश: उसका पतन होता जाता है।"

२६५. रहिमन प्रीत सराहिए, मिले होत रंग दून

संत बोनीफेस भक्ति का प्रचार करने के लिए जापान के एक ग्राम से होकर जा रहे थे कि उन्हें जोर से प्यास लगी। वे दिन भर भूखे-प्यासे थे। रास्ते में उन्हें कोई भी कुआँ नहीं दिखाई दिया। सहसा उन्होंने एक महिला को गाय का दूध दूहते देखा। उन्होंने पास जाकर थोड़ा-सा दूध माँगा। महिला का पति समीप ही खड़ा था। उसने पत्नी को दूध देने से मना किया। बोनीफेस आगे बढ़ गए, परन्तु थोड़ी दूर चलने के बाद ही वे गिर पड़े। लोगों ने देखा, तो वहाँ पहुँच गए। उनमें वह महिला और उसके पति भी थे। उन्होंने देखा कि सन्त जिस स्थान पर गिरे थे, सहसा वहाँ एक झरना फूट पड़ा और उसकी धारा सन्त के मुख में गिरने लगी। झरने का पानी शीतल और मधुर होने से उनमें स्फूर्ति आ गई। उन्होंने प्यास बुझाने के लिए भगवान को धन्यवाद दिया।

झरना फूटने की खबर सुनते ही लोग अपने-अपने बर्तन लेकर वहाँ आने लगे। वह महिला भी बर्तन लाने के लिये जाने लगी, किन्तु सहसा मुड़ गई और उसने सन्त से माफी माँगा। सन्त बोले, "माँ, तुम्हारी आँखों में करुणा के भाव दिखाई दे रहे हैं। तुम जैसे करुणामय लोगों के लिये ही करुणा-निधान भगवान ने इस मधुर जल की व्यवस्था की है। जैसे भगवान हर जीव के हृदय का कोना-कोना अपने प्रेमामृत से भर देते हैं, वैसे ही इस निर्झरिणी का जल पीने वालों को, किसी भी प्यासे पथिक की प्यास बुझाने के लिए आगे आकर उस पर प्यार उड़ेल देना चाहिए। प्राणिमात्र पर प्रेम करना ही मानवता है। मनुष्य को चाहिए कि हर एक के साथ वह प्रेमपूर्ण व्यवहार करे। प्रेम देने से जो सुख मिलता है, वह अवर्णनीय होता है। जापान में वह झरना आज भी 'प्रेम निर्झरिणी' के नाम से प्रसिद्ध है। ❑❑❑

२०१२-१३ के लिये कार्यकारिणी समिति की रिपोर्ट का सारांश

रामकृष्ण मिशन की १०४ वीं वार्षिक साधारण सभा बेलुड़ मठ में रविवार १५ दिसम्बर २०१३ को अपराह्न ३.३० बजे आयोजित की गयी।

ईटानगर रामकृष्ण मिशन अस्पताल को भगवान महावीर फाउन्डेशन, चेन्नई द्वारा १५वाँ. 'महावीर पुरस्कार, सर्वोत्तम सामाजिक परिसेवा के लिये चुना गया; जबकि नारायणपुर केन्द्र को छत्तीसगढ़ राज्य सरकार द्वारा 'डॉ. भंवर सिंह पोर्ते स्मृति पुरस्कार, आदिवासी सेवा २०१२ के लिये प्रदान किया गया।

स्वामी विवेकानन्द के १५०वें जन्मवर्ष की स्मृति में भारत सरकार के सांस्कृतिक मंत्रालय द्वारा १२ जनवरी २०१३ को राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली में 'स्वामीजी की १५० वीं जयन्ती' का शुभारम्भ किया गया। सेंट्रल बोर्ड ऑफ सेकेंडरी एजुकेशन (सी.बी.एस.ई.) ने ४० विद्यालयों को विवेकानन्द स्कूल ऑफ एक्सेलेंस पुरस्कार से विभूषित किया, जिसमें रामकृष्ण मिशन के ६ विद्यालय भी शामिल हैं। वर्ष २०१० में देश में चर्तुवर्ष-व्यापी जिन सेवा-प्रकल्पों का शुभारम्भ किया गया था, उनकी अग्रगति होती रही। ८ अक्तूबर २०१० से ३० जून २०१३ तक केन्द्र सरकार के अनुदान पर आधारित उन सेवाप्रकल्पों में ५१.७७ करोड़ रुपये खर्च किये गये। एक संक्षिप्त प्रतिवेदन इसके साथ संलग्न है।

इस वर्ष के दौरान रामकृष्ण मिशन के द्वारा कोठार, उड़िसा में एक शाखा केन्द्र का शुभारम्भ किया गया। भारत के बाहर मिशन के द्वारा नेपाल में काठमाण्डू तथा बांग्लादेश में बागेरहाट और मैमनसिंह में नये शाखा केन्द्रों का शुभारम्भ किया गया। रामकृष्ण मठ के द्वारा कुमिल्ला (बांग्लादेश) में एक शाखा केन्द्र तथा जैसोर (बांग्लादेश) में रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के शाखाकेन्द्र की शुरुआत की गई। फीजी के नाडी, केन्द्र के अन्तर्गत – सुवा (फीजी) में रामकृष्ण मिशन का एक उपकेन्द्र का शुरू किया गया।

शिक्षाक्षेत्र में निम्नलिखित नयी गतिविधियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं – (१) राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं प्रत्यायन परिषद (National Assessment & Accreditation Coun -cil) के द्वारा नरेन्द्रपुर कॉलेज को 'ए' ग्रेड (उच्चतम श्रेणी) के रूप में सम्मानित किया गया।

(२) चेन्नई स्टूडेंट्स होम के पॉलिटेक्निक कॉलेज गुणवत्ता और विश्वसनीयता (NIQR) चेन्नई के लिये राष्ट्रीय संस्थान द्वारा टीवीएन Kidao उत्कृष्ट शैक्षिक संस्था पुरस्कार से सम्मानित किया गया। (३) रहड़ा केन्द्र के विवेकानन्द शताब्दी कॉलेज द्वारा पश्चिम बंगाल राज्य विश्वविद्यालय, बारासात से वनस्पतिशास्त्र (Botany) में बी.एस.सी पाठ्यक्रम चालू किया गया।

चिकित्सा-क्षेत्र में निम्नलिखित नयी गतिविधियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं –

(१) स्पीचा थेरेपी यूनिट के उद्घाटन और ऑप्टीकल कोहेरेन्स टोमग्राफ (OCT) मशीन, नवजात बुलबुला (CPAP) प्रणाली, स्वत: पेरिटोनियल डायलिसिस मशीन, आदि लखनऊ अस्पताल में शुरु किया गया।

(२) वाराणसी सेवाश्रम द्वारा ८ बेड उच्च निर्भरता यूनिट शुरु किया गया, जो इंटेंसिव केयर यूनिट (आईसीयू) के समान है (३) सारगाछी केन्द्र की डिस्पेंसरी में एक्स-रे अल्ट्रासोनोग्राफी तथा पैथोलॉजी विभाग का प्रारम्भ (४) अई-स्टैट विश्लेषक, Bilicheck प्रणाली, ओर्थोस्कोप और लैप्रोस्कोप उपकरणों को ईटानगर अस्पताल में जोड़ा गया।

ग्रामीण विकास के क्षेत्र में निम्नलिखित नये प्रकल्प विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं –

(१) नारायणपुर केन्द्र के औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थान (आईटीआई) में ७ पाठ्यक्रम की शुरूआत, २० चेक डैम का निर्माण और २० बोरवेल की खुदाई (२) व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिये राष्ट्रीय परिषद (एनसीवीटी), श्रम एवं रोजगार मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा अनुमोदित विभिन्न पाठ्यक्रमों में प्रशिक्षण प्रदान करने के लिये कौशल विकास संस्थान सारगाछी केन्द्र में प्रारम्भ किया गया।

मठ के अन्तर्गत निम्नलिखित नये प्रकल्प विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :

(१) बलराम मन्दिर, कोलकाता में 'श्रीरामकृष्ण दिव्य लीला प्रदर्शनी का उद्घाटन (२) पूना मठ के क्लीनिक में एक डेंटल चेयर तथा एक पूरी तरह से स्वचलित जैव रसायन विश्लेषक की शुरुआत (३) पोन्नमपेट केन्द्र द्वारा ग्रामीण आदिवासियों के लिये एक कार्यशाला का आयोजन।

भारत के बाहर की निम्नलिखित गतिविधियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं –

१. कोलोम्बो के बट्टीकोलोवा केन्द्र में दो भवन, होम स्टडी हॉल तथा श्री सारदा नर्सरी विद्यालय का उद्घाटन।

२. बांग्लादेश के बलिआटी केन्द्र पर साधु निवास तथा डिस्पेंसरी का निर्माण।

३. अमेरिका के प्राविडेन्स केन्द्र पर एक नए प्रार्थना-मंदिर का समर्पण।

इस वर्ष के दौरान मठ और मिशन ने २.२६ करोड़ रुपये खर्च कर देश के विभिन्न भागों में कई राहत तथा पुनर्वास के कार्य किये, जिनमें ४१५ गाँवों में करीब १ लाख परिवार के ४.४९ लाख सदस्य लाभान्वित हुए।

निर्धन छात्रों को छात्रवृत्ति, वृद्ध, बीमार तथा असहाय लोगों को आर्थिक सहायता आदि कल्याण-कार्यों में ११.५५ करोड़ रुपये खर्च किये गये, जिससे ३६.३० लाख लोग लाभान्वित हुए।

१५ अस्पतालों, १२५ डिस्पेनसरियों तथा ६० सचल चिकित्सा-इकाइयों के माध्यम से ८०.२० लाख से अधिक रोगियों को चिकित्सा-सेवा प्रदान की गयी, जिसमें १४६.३७ करोड़ रुपये खर्च हुए।

हमारे शिक्षा-संस्थानों में बाल-विहार से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक, ३.२९ लाख विद्यार्थी शिक्षारत रहे। शिक्षा-कार्य में २५१.८८ करोड़ रुपये खर्च किये गये।

४१.२६ करोड़ की लागत पर ग्रामीण तथा आदिवासी विकास-योजनाओं का भी कार्यन्वयन किया गया, जिससे ४२.६७ लाख ग्रामीण लोग लाभान्वित हुए।

इस अवसर पर हम अपने सदस्यों एवं मित्रों के प्रति उनके सतत् सहयोग के लिये हार्दिक धन्यवाद एवं कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं।

स्वामी सुहितानन्द

१५ दिसम्बर २०१३ महासचिव

स्वामी विवेकानन्द के १५०वें जन्मवर्ष-स्मरणोत्सव

केन्द्रीय सरकार के अनुदान पर आधारित सेवा प्रकल्पों की ८-१०-२०१० से ३०-६-२०१३ तक प्रगति का एक संक्षिप्त विवरण।

(१) प्रकाशन परियोजना : स्वामीजी के जीवन और वाणी पर २३ भाषाओं में १०.८२ लाख पुस्तकों तथा १५ शीर्षकों के १३.२५ लाख अन्य पुस्तकों का १० भाषाओं में प्रकाशन किया गया, जिसके तहत ४२५.१७ लाख रुपये खर्च हुए।

(२) सांस्कृतिक कार्यक्रम परियोजना : धार्मिक/साम्प्रदायिक सद्भाव पर ६ राज्यस्तरीय सेमिनार, ४ राज्यों पर साम्प्रदायिक सद्भाव पर विचार-विमर्श और आदिवासी तथा लोक-संस्कृति पर क्षेत्रीय कार्यक्रम आयोजित किये गये जिसके अन्तर्गत १८०.२५ लाख रुपये खर्च हुए।

(३) इलेक्ट्रॉनिक प्रचार माध्यम : 'व्यक्तित्व-विकास (भाग-१) एवं 'स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में शिक्षा' शीर्षक मल्टीमीडिया प्रभावयुक्त ऑडियो डी.वी.डी. का उत्पादन तथा स्वामीजी के जीवन और वाणी पर पूर्ण चलचित्र निर्माण कार्य प्रगति पर है, जिसके तहत अब तक १४४.५७ लाख रुपये खर्च हुए।

(४) गदाधर अभ्युदय प्रकल्प (सर्वांगीण बालविकास प्रकल्प) : २३ राज्यों में १७४ केन्द्रों के जरिए लगभग १७,५०० बच्चे लाभान्वित हुए। कुल १,७३९.९५ लाख रुपये खर्च किये गये।

(५) विवेकानन्द स्वास्थ्य परिसेवा प्रकल्प (शिशु तथा माताओं के स्वास्थ्य-सुधार हेतु प्रकल्प) : २२ राज्यों में १२६ केन्द्रों के जरिए लगभग १३,००० शिशु तथा माताएँ लाभान्वित हुए। कुल १,१७४.६७ लाख रुपये खर्च किये गये।

(६) सारदा पल्लीविकास प्रकल्प (महिला स्व-सशक्तिकरण हेतु प्रकल्प) : ६ राज्यों में १० केन्द्रों के जरिए लगभग १६१९ महिलाओं के कल्याण हेतु १६८.८१ लाख रुपये खर्च किये गये।

(७) स्वामी अखण्डानन्द सेवा प्रकल्प (गरीबी उन्मूलन हेतु प्रकल्प) : ६ राज्यों में १० केन्द्रों के जरिए लगभग ११३५ व्यक्तियों का कल्याण हुआ जिसमें १६०.४४ लाख रुपये खर्च किये गये।

(८) युवाओं के लिये विशेष कार्यक्रम : ५ राज्यों में १० युवा-परामर्श केन्द्र की शुरुआत, नारायणपुर में राष्ट्रीय स्तर पर युवा-सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें ४६०० प्रतियोगियों, ६ आंचलिक स्तर पर युवा-सम्मेलन/ प्रतियोगिताएँ जिसमें ११ राज्य से कुल १२, ४८९ प्रतियोगियों, ८ राज्यस्तर पर युवा-सम्मेलन/ प्रतियोगिताएं आयोजित की गयीं – कुल १,६०,३४६ प्रतियोगियों, निरन्तर श्रेणीबद्ध मूल्यबोध-शिक्षा कार्यक्रम आयोजित किये गये –

(क) १४ राज्यों में ४०२ यूनिट द्वारा २६० संस्थानों के १७,६०० (गैर-औपचारिक) छात्र लाभान्वित हुये, ५ भाषाओं में १८२ शीर्षकों के १५.४९ लाख पुस्तकों का प्रकाशन, तथा (ख) १६ राज्यों में ७२७ विद्यालय के २,५३९ यूनिट (कक्षा-आधारित) के १,१२,५५७ छात्रों, इसके अन्तर्गत १० प्रमुख भाषाओं में १.१७ लाख पुस्तकों कक्षा ५-९ और कक्षा ११ के लिये प्रकाशन किया गया। इसके तहत १,१८२.९६ लाख रुपये खर्च किये गये। उपर्युक्त परियोजनाओं में ५१.७७ करोड़ रुपये की कुल राशि व्यय की गयी।

❑❑❑